विवेकधैर्याश्रयः

।।श्रीकृष्णाय नमः ।।

।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

ग्रन्थ – परिचय

कब कहां और किस प्रसङ्गमें विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थका प्रणयन हुआ यह पता नहीं चलता.

वैसे तो विवेक, धैर्य तथा आश्रय का सम्बन्ध प्रपत्तिमार्गके साथ अधिक घनिष्ट है किन्तु भक्तिमार्गमें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंकेलिए विवेक, धैर्य तथा आश्रय भगवत्सेवामें भी उपयोगी होते ही है. वास्तविकता तो यह है कि इन तीनोंकी कर्म, ज्ञान एवम् भक्ति रूप तीनों ही मार्गमें अपेक्षा रहती है. 'विवेक' 'धैर्य' या 'आश्रय' शब्द सामान्य अर्थोंमें श्रीमहाप्रभुको विवक्षित नहीं हैं अपितु एक निश्चित पारिभाषिक अर्थमें ही विवक्षित है.

यथा:

१. **विवेक=** हरिः सर्वं निजेच्छातो करिष्यति

२. **धैर्य=** त्रिदुःखसहनमामृते सर्वतः सदा

३. **आश्रय=** ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः

इन्हीं पारिभाषिक अर्थोमें विवेक, धैर्य तथा आश्रय पुष्टिमार्गीय कृष्णसेवामें उपयोगी बनते है.

कृष्णसेवामें प्रवृत्त पुष्टिभक्त किन – किन परिस्थितियोंमें कृष्णसेवाकर्ताकेलिए आवश्यक विवेक, धैर्य या आश्रय को खो सकता है तथा किन उपायोंसे इनकी रक्षा सम्भव है आदि विषयोंका निरूपण इस ग्रन्थमें हुआ है.

सिद्धान्तमुक्तावलीमें उपदिष्ट सेवाके बाह्य अङ्गोका निरूपण हमें सिद्धान्तरहस्यमें तथा आभ्यन्तर अङ्गोंका निरूपण नवरत्नमें मिलता है. इन्हीं बाह्य तथा आभ्यन्तर साधनोंकी साङ्गोपाङ्गता विवेक – धैर्य – आश्रयके सम्पन्न होनेपर सम्भव होती है. 'अन्तःकरणप्रबोध' ग्रन्थद्वारा जो अन्तरात्माका प्रबोधन किया गया उस प्रबोधनकेलिए भी विवेक – धैर्य – आश्रयकी निरतिशय अपेक्षा है.

इन विवेक, धैर्य तथा आश्रय का परस्पर सम्बन्ध विलक्षण है. जिसे भगवत्कृपासे आश्रय सिद्ध हो जाता है उसे विवेक और धैर्य स्वतः ही सिद्ध हो जाता हैं, अन्यथा

विवेक और धैर्य के बिना आश्रय दृढ नहीं हो पाता. हमारे अविवेक और अधैर्य हमें भगवदाश्रयसे विचलित कर सकते हैं. अतः अपने जागृत विवेक तथा धैर्य के द्वारा अदृढ आश्रयकी रक्षा आवश्यक होती है. इस तरह विवेक – धैर्य एक कोटी है तथा आश्रय दूसरी कोटी है.

यह आश्रय पुष्टिभक्तिका आवश्यक अङ्ग होनेपर भी केवल पुष्टिभक्ति ही नहीं अपितु कर्म – ज्ञान – भक्ति सभी मार्गोका अनुकल्प है. कर्म – ज्ञान – भक्तिके अनेकविध उपायोंको दिखलानेके बावजूद भगवान्ने गीताके अन्तमें – ''सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' के महान् उपदेशद्वारा एक पृथक् शरणमार्गके रूपमें इसी आश्रयको समझाया है. भागवतके एकादशस्कन्दन्धमें भी इसका स्पष्टीकरण मिलता है – ''तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च. मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्युकुतोभयम्'' अर्थ: श्रुतिस्मृतिमें उत्सर्ग – अपवादके रूपमें कहे गये विधि – निषेध और तत्प्रेरित विविध कर्मोमें प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा विविध ज्ञानमार्गीय श्रोतव्य श्रुत विषयोंके श्रवण – मनन – निदिध्यासन आदि किसी भी प्रणालीकी अपेक्षा रखे बिना केवल एकमात्र भगवान्की शरणमें सर्वात्मभावके साथ जाना चाहिये.

यहां भी इसी आश्रय या पृथक्शरणमार्ग का विवेचन अभीष्ट है.

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।

अर्थ : इस तरह आश्रय सभीकेलिए सर्वदा हितकारी सिद्ध होता है क्योंकि कलियुगमें भक्ति आदि मार्ग दुःसाध्य हो गये हैं.

कर्म, ज्ञान या भक्ति के मार्गपर चल सकनेवाले जीवोंकेलिए विवेक – धैर्य – आश्रय अच्छी तरह चल पानेमें सम्बल बन जाते है. जो इन मार्गोपर चल नहीं पाते उनकेलिए आश्रय ही मार्ग भी बन जाता है और चल पानेका बल भी !

आश्रयका सुलभतम स्वरूप श्रीमहाप्रभुने इस तरह समझाया है:

यथा कथञ्चित् कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किम्वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद् हरिम् ।।

अर्थ : जैसे भी जो भी छोटे – बडे या अच्छे – बुरे कार्य व्यक्ति करता हो परन्तु किसी भी समय श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र सहारा – शरण हैं, यह भावना मनसे दूर नहीं होनी चाहिये.

मूलतः गीतामें जिस तरह – ''अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शूच'' या भागवतमें जिस तरह – ''मया स्या ह्यकुतोभयम्'' में भगवान्ने अपने श्रीमुखसे शरणागतोंको अभयदान दिया है वही इस आश्रय या प्रपत्ति की क्रिया एवम् भाव को पृथक – शरणमार्गकी पदवी प्रदान करता है. अतएव श्रीमहाप्रभु भी यहां षोडशग्रन्थके अन्तर्गत विवेकधैर्याश्रयमें भगवत्सेवाके अङ्गरूपसे तथा अनुकल्परूपसे आश्रयका निरूपण करते हैं. जो स्वयम् अनुकल्प हो सकता हो वह यदि अङ्ग बन जाये तो भगवत्सेवाके स्वरूपमें एक विशिष्ट निखार आना स्वाभाविक ही है. अतएव श्रीमहाप्रभु उपदेश देते हैं विवेक – धैर्यकी रक्षा सतत करनी चाहिये इसी तरह आश्रयकी भी.

विवेक :

विवेकके वैसे तो अनेक अर्थ तत्तद् शास्त्रोंमे उपलब्ध होते है. यहां परन्तु 'विवेक'का विवक्षित अर्थ इतना ही है कि जो कुछ जहां जब जैसे घटित हो रहा है वह सर्वदुःखहारी भगवान् श्रीहरिकी अपनी इच्छासे ही हो रहा है ब्रह्माण्डके सारे क्रिया – कलाप भगवान्की क्रीडाके अङ्ग है. भगवान् जो कुछ करते हैं उसमें किसी न किसी तरह हमारा हित ही निहित होता है, हमारे हृदय और बुद्धि में यह भावना और धारणा सर्वदा ही बनी रहनी चाहिये. यही 'विवेक' कहलाता है.

''भगवान् सर्वसमर्थ हैं सर्वात्मा तथा सर्वान्तर्यामी है'' ऐसे भाव भगवद्धर्मके विचारसे 'विवेक' कहलाते है. मैं भगवान्का अंश हूं, दास हूं, भगवत्क्रीडाका अङ्ग हूं तथा मेरी अहन्ता – ममताका कोई अर्थ नहीं है इत्यादि मनोभाव जीवधर्मके विचारसे 'विवेक' कहलाते हैं. इस तरहके विवेकसे सम्पन्न होनेपर हममे से चतुर्विध अविवेक दूर हो जायेगा. हमारे भीतर चार प्रकारकी वृत्तियां अविवेकके कारण घर कर जाती हैं. वे अविवेकजन्य वृत्तियां इस तरह है:

१. प्रार्थनाकी वृत्ति
२. अभिमानकी वृत्ति
३. हठकी वृत्ति
४. आग्रहकी वृत्ति

१. हमें थोडा सा कष्ट होने लगता है या कोई कामना उत्पन्न हो जाती है तो हम अपने कष्टोंको दूर करनेकेलिए अथवा हमारी क्षुद्र कामनाओंकी पूर्तिकेलिए भगवानसे प्रार्थना करने लग जाते हैं. मानों भगवान् सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी या सर्वात्मा ही न हों ! भगवान् तो हमारी प्रार्थनाके बिना भी सब कुछ जानते हैं कि हमारी क्या अपेक्षायें हैं तथा किन कामनाओंकी पूर्तिमें हमारा हित निहित है और किनमें

अहित. हम पहचान नहीं पाते पर परमात्मा तो हमारी आत्मामें निवास करते ही हैं. अतः हमारे स्वामी हमें क्या और कितना देना चाहते हैं उसे जाने बिना हम मांगनेकी भूल कर बैठते हैं. हमारे हितमें ही परमात्मा कुछ हमें देता है या नहीं देता परन्तु हम हमारे हिताहितके ज्ञानके बिना ही मांगनेकी बेसब्री कर बैठते हैं! अतः भगवान् सर्वज्ञ हैं सब कुछ देनेमें समर्थ हैं पर देंगे वही जिसमें हमारा हित निहित हो, ऐसे दृढ विश्वासको मनमें रख कर प्रार्थना – कष्टनिवृत्ति या कामनापूर्ति की याचना – न करना विवेकका प्रथम लक्षण है.

२. यह प्रार्थनात्याग पूर्वोक्त भावभूमिपर किया जाये तभी 'विवेक' कहलाता है. अन्यथा पुरुषार्थवादी अहमारयुक्त मनोवृत्तिसे अथवा अनीश्वरवादी अश्रद्धाकी मनोवृत्तिसे या किंकर्तव्य – विमूढ बुद्धिसे प्रार्थना न करना विवेकका लक्षण नहीं है. अतः प्रार्थनात्यागकी तरह अभिमानका त्याग भी आवश्यक है. अभिमान केवल हमें अपने स्वामीका होना चाहिये. अपने पुरुषार्थपर या परमात्मासे भिन्न किसी जड़शक्ति यथा प्रकृति, काल, कर्म स्वभाव माया, शैतान आदिका नहीं. क्योंकि इनके कारण यदि कुछ सुख – दुःख हमें होता है तो वह भी परमात्माकी वैसी इच्छा होनेके कारण ही. अन्यथा ये सभी प्रभावहीन होते हैं. यह विवेकका द्वितीय लक्षण है.

३. मिथ्याभिमान तथा प्रार्थना रहित जीवनप्रणालीमें यह सहज सम्भव है कि हमारे अन्दर अकर्मण्यताका एक ऐसा हठीलापन पनप जाये कि सामान्यविशेष परिस्थितिके विवेकके बिना केवल हाथपर हाथ धरके बैठे रहना ही हमें आदर्श लगने लग जाये. अभिमानत्याग तथा प्रार्थनात्यागके साथ ही साथ विवेकरहित अप्रवृत्तिकी हठका त्याग भी अतएव आवश्यक होता है. भक्तकी प्रवृत्ति किन्तु अपने दैहिक स्वर्थोकी पूर्तिसे प्रेरित नहीं होती. भक्तकी प्रवृत्ति होती है जब उसके अन्तःकरणमें विशेष भगवदाज्ञाका अनुभव होने लगे. ऐसी विशेष भगवदाज्ञाये अवसर – विशेषपर किसी भक्तविशेषसे किसी विशेष भगवत्कार्यको पूर्ण करनेकेलिए होती है. भगवदाज्ञाके अनुसार यह कार्य मुझे ही पूर्ण करना है ऐसे भगवदीय अभिमानके साथ तथा अकर्मण्यताकी हठको छोडकर उस विशेष कार्यको सम्पन्न करना चाहिये.

सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है इस सिद्धान्तकी सहज स्वीकृति तथा असहज हठीलेपनसे उसके साथ चिपक जानेमें बहुत अन्तर पड़ जाता है. अवसरविशेषपर स्वधर्म भगवत्सेवा या उससे सम्बन्धित किसी कर्तव्यको विशेष आयास – प्रयाससे पूर्ण करनेकी भगवदाज्ञाजन्य प्रेरणा जब हमारे अन्तःकरणमें उठती हो, तब जो होगा सो भगवदिच्छाके अनुसार होगा, ऐसी अकर्मण्यताकी हठ रखते समय हम भूल जाते हैं कि उक्त प्रेरणा भी तो विशेष भगवदाज्ञासे हुई

है. अतः हठवादितापूर्ण सिद्धान्तके दुरुपयोगका त्याग विवेककी तीसरी पहचान है.

४. एक बार किसी अवसर विशेषपर ''सब कुछ भगवदिच्छाके अनुसार होता है'' इस सिद्धान्तको हठवादितासे न लेनेका तात्पर्य यह नहीं हो जाता कि सैद्धान्तिक आग्रहोंसे सर्वथा मुक्त ही हो जाना चाहिये. व्यवहारमें सिद्धान्ततः क्या धर्म है तथा क्या अधर्म है इसका विचार प्राथमिक होना चाहिये. तदनुसार ही किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिये. अतः आपद्धर्म या अवसरोपात्त किसी विशेष कार्यरीतिको सार्वदिक माननेका आग्रह भी नहीं रखना चाहिये. अतः हठत्याग भी आग्रहरहित होना चाहिये. आग्रहसहित नहीं!

यही विवेकका वास्तविक एवम् परिपूर्ण स्वरूप है. इस ग्रन्थके एक व्याख्याकार श्रीगोपीशजीके अनुसार श्रीमहाप्रभु नवविध विवेकका यहां उपदेश करते हैं, जिसे इनकी व्याख्यामें इन्होंने भलीभान्ति समझाया है. यहां विस्तारभयसे हम अनुवाद नहीं दे रहे है.

धैर्य :

जन्मसे मृत्युपर्यन्त सभी तरहके दुःखोंको सहन कर लेना धैर्य है. दुःखोंको सहन करनेका मतलब होता है उन्हें स्वीकार लेना – उनका प्रतिकार न करना. कभी एकाद दुःख सह लेना और कभी विचलित हो जाना धैर्यका स्वभाव नहीं है. निरन्तर सभी तरहके दुःखोंको सर्वदा सहना ही पूर्ण धैर्यका स्वभाव है.

दुःख अनेक प्रकारके हो सकते हैं. यथा – रोगादिजन्य, कायिक या भौतिक दुःख होते हैं. कामक्रोधादिजन्य इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दुःख होते है. सेवार्थ उपयोगी वस्तुओंके अभाव अथवा ऐसे अन्य भगवत्सम्बन्धी दुःखोंको आधिदैविक दुःख कहा जाता है. इस तरह धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोके सम्पादनकेलिए लौकिक आयास आधिभौतिक, वैदिक आयास आध्यात्मिक तथा भगवदर्थ आयास आधिदैविक दुःख माने जाते हैं. कभी – कभी काल, कर्म, स्वभाव, जन्य दुःखोंसे भी हम पीड़ीत हो जाते है. इन सभी तरहके दुःखोंको सहन करना धैर्य कहलाता है.

धैर्य धारण करनेके चार उपाय होते हैं:

१. अनाग्रह

२. सहन

३. त्याग

४. असामर्थ्यभावना

१. दु:खोंको सहन करना चाहिये पर स्वयम् चलाकर दु:खी होनेके काम नहीं करने चाहिये. अपने प्रयत्नके बिना स्वत: भगवदिच्छासे दु:ख दूर हो जाते हों तो जान – बूझकर दु:खी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहकी भी कोई महत्ता नहीं है. अतएव समागत दु:खोंका प्रतिकार सहज – सरलतया हो जाता हो सहनेकी कोई आवश्यकता नहीं और न होता हो तो विचलित भी नहीं होना चाहिये. यही धैर्यका वास्तविक स्वरूप है.

दु:ख सहनेको उद्यत रहनेपर भी दु:खी बने रहनेके अस्वस्थ दुराग्रहसे बचनेका उदाहरण अधोलिखित कथाश्लोकद्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है:

तक्रवत् धैर्यधारण :

हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं
देशान्तरे विधिवशाद् गणिकास्मि जाता ।
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम् ।।

अर्थ : मुझे हठात् रनिवासमें पकड़ रखनेवाले राजाकी हत्या करके अपने सच्चे पतिके पास जब पहुंची तो सर्पदंशके कारण उसे भी मृत पाया. देश देशान्तरोंमें भटकती हुई वेश्यावृत्ति अपनानेको बाधित हुई तो एक दिन स्वयम् अपने पूर्वपतिसे जात पुत्रको सम्पन्न ग्राहक मानकर आमन्त्रित कर बैठी. वास्तविकताका ज्ञान होनेपर अपने पुत्रके साथ प्रायश्चित्त हेतु आत्मदाहको उद्यत हुई तो पुत्र जलकर मर गया परन्तु मैं कथञ्चिद् बच गयी. बचानेवाले ग्वालेकी पत्नी बनकर छाछ बेचती हूं सो आज वह भी ढुल गई. अब बताओ कि कितने दु:खोंको रोऊं ! इस छाछके ढुल जानेके दु:खको कहां तक रोऊं ?

जीवनमें एकसे बढकर दूसरे कष्ट आते हैं. किन – किनको रोया जाये और कब – तक रोया जाये ? ग्वालेकी पत्नी अपने पूर्वानुभूत कष्टोंका विचार कर नित – नये आनेवाले दु:खोंको झेल जाती है. जब भी जैसे जीवन – यापन्नके अवसर सामने आते हैं, उन्हे स्वीकार लेती है. न तो दु:खसे विचलित होती है और न दु:खी बने रहनेकी निराशा या कुण्ठासे ग्रस्त ही होती है. न दु:खोंके आनेका कोई आग्रह और न दु:खोंके जानेका कोई आग्रह ! ''प्रतीकारो यदृच्छातो सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्''.

२. धैर्य धारण करनेका दूसरा उपाय है – दु:खोंको कष्टोंको या तिरस्कारोंको सह लेना. हमे यह सोचना चाहिये कि जो हमें कष्ट है वह अन्य किसीको भी

हो सकता है. हमारा कष्ट किसी दूसरेकेलिए सुख भी हो सकता है. हमारी सुख – दु:खकी अनुभूतिके हम अकेले ही दावेदार नहीं हैं परन्तु अनेक दावेदार हैं. फिर अकेले हमारे उद्विग्न होनेकी क्या तुक है ?

देहवत् धैर्यधारण :

देह: किमन्नदातुर्वा निषेक्तुर्मातुरेव वा ।
मातुर्पितुर्वा बलिन: क्रेतुरग्ने: शुनोपि वा ।।

अर्थ : इस देहपर सच्चा अधिकार किसका है ? क्या उसका जो हमें अन्न देता है, या हमारे जनक पिताका, या गर्भधारण करनेवाली माताका, या बलपूर्वक जो अधीन कर ले उसका, या धन देकर जो हमें खरीद ले उसका, या देहको भस्मसात् करनेवाली अग्निका, या उसे खानेके भूखे कृमी – कीट – पशु – पक्षियोंका !

जब हमारे देहके दावेदार अकेले हम ही नहीं – इतने सारे हैं. सभीके किसी न किसी तरहके कष्ट और आनन्द हमारे देहके साथ जुडे हुए हैं. ऐसी सार्वजनिक सम्पत्तिसे अकेले हमारे दु:खी होनेकी क्या आवश्यकता है ?

इसी तरह हमारे सुख – दु:खमें भी हमारे परिवार, समाज, राष्ट्र, मानवमात्र और प्राणिमात्र का कुछ न कुछ या किसी न किसी तरहका हिस्सा तो है ही. फिर अकेले हमें ही अपने कष्टोंको असह्य क्यों मानना चाहिये ? किसीका कष्ट कैसे हमारेलिए सुख बन जाता है, इसी तरह हमारा कष्ट किसी दूसरेकेलिए सुख होगा. वनस्पतीका कष्ट बकरीका सुख है – बकरीका कष्ट सिंहका सुख है – सिंहका कष्ट शिकारी मानवका सुख होता है इत्यादि. अत: हमारे पारिवारिक सदस्य पत्नी आदि या अन्य भी असाधु पुरुषोंद्वारा किया गया तिरस्कार हमें सह लेना चाहिये.

३. धैर्य धारण करनेका तीसरा उपाय है त्याग. त्यागका अर्थ है अपनी ओरसे सभी इन्द्रियोंको स्थगित कर देना. उन्हें काया, वाणी और मन के अभिनिवेशसे मुक्त करना.

जडवत् धैर्यधारण :

जैसे जडभरत अपनी मस्तीमें बैठे हुए थे. जब राजाके सैनिक उन्हें पालकी ढोनेकेलिए गये तो आनाकानी किये बिना पालकी ढोने लग गये. ठीकसे न ढो पानेके कारण राजा गाली देने लगा तो वह भी मस्तीसे सुन ली. पूछनेपर बुद्धिमत्ता पूर्ण उत्तर दिया और राजा चरणोमें पड़ गया तो उसी पुरानी मस्तीसे ज्ञानोपदेश भी कर दिया !

इस तरह जडवत व्यवहार करके भी धैर्य धारण किया जा सकता है.

४. धैर्य धारण करनेका चौथा उपाय है स्वयम् अपनी असमर्थताकी भावना करना.

गोपभार्यवत् धैर्यधारण :

कृष्णके विरहमें गोपिकाओंने तथा अन्य भी व्रजवासियोंने अपनी असमर्थताके बोधद्वारा धैर्य धारण किया था, रासके प्रकरणमें तथा मथुरागमनके प्रसङ्गमें भी. भगवान्पर जब बस नहीं चलता तो अपनी असमर्थताकी भावनाद्वारा धैर्य धारणके अलावा और कोई उपाय भी नहीं रह जाता है.

इस तरह भगवदिच्छाका और अपनी असमर्थताका विचार कर आधिदैविक दु:खोंको सहन कर लेना चाहिये.

ये सारे उपाय जो शक्य या सुकर नहीं लगते हों तो सर्वदु:खहर्ता हरिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये. क्योंकि भगवान्के आश्रयसे अशक्य भी सुशक्य हो जाता है. सारी दुर्लभ बातें भी सुलभ बन जाती हैं. इस तरह धैर्यका निरूपण किया गया. अब आश्रयका स्वरूप समझना चाहिये.

आश्रय :

ऐहिक पारलौकिक सभी बातोंमें सर्वथा एकमात्र हरिका ही सहारा स्वीकारना आश्रय कहलाता है. आश्रयकी दृढताके भी चार उपाय हैं:

१. मन और वाणी से निरन्तर शरणभावना

२. कायिक, वाचिक और मानसिक रूपमें अन्याश्रयका त्याग करना

३. मेघपर चातकके दृढ विश्वासकी तरह भगवान्पर सर्वदा दृढ विश्वास रखना – स्वयम् प्रयुक्त ब्रह्मास्त्रपर स्वयमेव मेघनादकी तरह भगवान् पर कभी अविश्वास न करना.

४. सुखसे या दु:खसे जो भी मिल जाये उसका ममतारहित उपभोग करना.

१. हमारे जीवनमें अनेक प्रकारकी विषम स्थितियां सामने आती रहती हैं. जिन उद्वेगजनक परिस्थितिओंमें हम विचलित हो जाते हैं, उन परिस्थितियोमें यदि हमारे मन और वाणी में हम शरणभावना बनाये रखें तो आश्रय दृढ हो जाता है. जीवनमें अनेकविध आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवम् आधिदैविक कष्ट आते हैं. ऐसे समय बहुधा हम विवेक और धैर्य निभा नहीं पाते. पर मन और वाणी में यदि शरणभावना बनाये रखनेमें सफल हो पायें तो आश्रय दृढ हो जाता है.

चाहे कोई भी परिस्थिति हमारे सामने आ पड़े – पापकी, भयकी, अपूर्ण

कामानओंकी, भक्तद्रोहकी, भक्ति अभावकी या भक्तोंसे तिरस्कृत होनेकी सभी स्थितियोंमें भगवद्शरणभावना एक कारगर उपाय है. जब किसी अशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पडता है तब उद्वेग आशमा एवम् कुण्ठा के कारण हम भगवान्को भूल जाते है. जब कोई सुशक्य कार्यको सम्पन्न करनेका उत्तरदायित्व हमपर आ पड़ता है तब सफलताकी आशा उत्साह और अहमार के कारण हम भगवान्को भूल जाते हैं. कार्य चाहे अशक्य हो या सुशक्य भगवान्की शरणभावना सर्वदा मन – वाणीपर बनी रहनी चाहिये. हमारा अहमार जब प्रबल हो रहा हो – हमपर जो आश्रित हों उनके रक्षणपोषणके समय अथवा हमपर आश्रित व्यक्ति या सम्बन्धी जन जब हमारे अहम्को ठेस पहुंचा रहे हों अथवा हमारे शिष्य भी जब हमारा तिरस्कार कर रहे हों, तब शरणभावनाको बनाये रखना बहुत आवश्यक होता है.

मानसी सेवा, व्यसनदशा, निरोध या सर्वात्मभाव के अनुभव योग्य अलौकिक मनकी सिद्धिकेलिए भी एकमात्र श्रीहरि ही हमारी शरण होते हैं. मन – वाणीसे निरन्तर अष्टाक्षर मन्त्रका अनुसन्धान बनाये रखना चाहिये. यह आश्रयको दृढ करनेका प्रथम उपाय है.

२. काया, वाणी और मन से अन्याश्रयका त्याग करना चाहिये. श्रुतिमें नित्यकर्मके रूपमें विहित न हो तब भी किसी अन्य देवादिका स्वत: चलाकर – निष्काम या सकाम भजन करना अन्याश्रय है. कहीं जाते समय मार्गमें किसी अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो दूसरी बात है, अन्यथा स्वयम् अपनी ओरसे चलाकर किसी अन्य देवके दर्शनार्थ उनके मन्दिरमें जाना अन्याश्रय है. मार्गसे जाते हुए अन्य देवका मन्दिर मिल जाये तो नमनद्वारा आदरभाव प्रकट करना अन्याश्रय नहिं है. किसी लौकिक या अलौकिक प्रयोजनवश किसी अन्य देवताकी प्रार्थना करना अन्याश्रय है. 'अन्यदेव' का अर्थ है – भगवान्के ऐसे देवरूप कि जिनको पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणालीमें मान्य नहीं किया गया है. अन्याश्रयके त्याग करनेसे भी आश्रय दृढ हो जाता है.

३. भगवान्पर अविश्वास कभी नहीं करना चाहिये – सर्वदा चातकका सा दृढ विश्वास रखना चाहिये. लंकामें हनुमानजीको जब ब्रह्मास्त्रसे बांधा गया तब स्वम् बांधनेवाले राक्षसोंको ही ब्रह्मास्त्रपर अविश्वास हो गया था. अत: वे जब ब्रह्मास्त्रके अलावा रस्सी या अर्गला से बांधने लगे तब उनके अविश्वासको जानकर दोनों ही बन्धनोंको तोड़कर हनुमानजी मुक्त हो गये. अतएव अविश्वास कदापि नहीं करना चाहिये. जब बरसे या न बरसे पर चातकका विश्वास स्वातिबिन्दुके बारेमें कभी खण्डित नहीं होता. ऐसा दृढ विश्वास प्रभुपर रहना चाहिये. दृढ विश्वाससे भगवदाश्रय दृढ होता है.

४. हमें जो कुछ जैसा और जितना प्राप्त होता है, उसके ममतारहित उपभोगका व्रत यदि हम लेलें तो न प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष होगा और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे विषाद ही. इस तरह प्राप्त वस्तुके ममतारहित उपभोगसे भगवदाश्रयकी दृढता सिद्ध होती है.

उपसंहार :

किसी भी तरह हो आश्रयकी दृढता अपेक्षित है. छोटे – बड़े अच्छे – बुरे किसी भी तरहके कार्योको करते हुए यदि हम शरणभावनाको हृदयमें जगाये रखनेमें सक्षम हो जाते हैं तो अन्य सारी बाते शनैः – शनैः स्वतएव सिद्ध होने लगेंगी. इस तरह हमने देखा कि कलियुगमें भक्ति आदि मार्गपर चल पाना दुःसाध्य हो गया है, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णका आश्रय सभीकेलिए सर्वदा हितकारक होता है.

एक दृष्टिसे देखा जाये तो मार्ग तो कर्म, ज्ञान और भक्ति रूप तीन ही हैं. परन्तु जो जीव इन मार्गोपर चल नहीं पाते या चलते हुए थक कर बैठ जाना चाहते हैं, उनकी साधना अधूरी रह जाती है. पर थके हुए या बिन थके जो जीव भगवान्के चरणोंमें बैठ जाते हैं, वे बिना चले भी गन्तव्यतक पहुंच जाते हैं. भगवान्के चरण या शरण अपने आपमें मार्ग भी हैं और गन्तव्य भी. "एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम्..."

प्रस्तुत विवेकधैर्याश्रय ग्रन्थ वि. सं. १९८३ में प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेसद्वारा पुनर्मुद्रितरूप है. वह संस्करण श्रीमद्गोस्वामिकुलभूषण– विद्यानिधि – श्रीब्रजरत्नलालजी महाराजकी श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा (सूरत) द्वारा प्रकाशित हुआ था. सम्पादन श्रीचीमनलाल ह. शास्त्रीजीने किया था. इन दोनों महानुभावोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं.

विवेकधैर्याश्रयः

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ।।१।।
प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ।।२।।
अभिमानश्च सक्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ।।३।।
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।
आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।।४।।
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।
विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ।।५।।
त्रिदुःखसहनं धैर्यमामृतेः सर्वतः सदा ।
तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ।।६।।
प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ।।७।।
स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवायनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ।।८।।
अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ।।९।।
ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ।।१०।।
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ।।११।।
अहमारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव यथान्तेवास्यतिक्रमे ।।१२।।
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ।।१३।।
अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थना कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ।।१४।।
अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ।।१५।।
यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावन्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ।।१६।।
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।१७।।

श्रीवल्लभाचार्यविरचितो विवेकधर्याश्रय समाप्तः ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीरघुनाथचरणप्रकटिता दीपिका ।

स्वगोकुलपरित्राणसम्भ्रमेणोद्धृताचलम् ।
क्रीडद्गोपाङ्गनापाङ्गसङ्गिगोपालमाश्रये ।।१।।
मन्मानसेऽस्तु सततं श्रीविट्ठलपदाम्बुजम् ।
संसारभयभीतानां यत्स्मृतिर्भयनाशिनी ।।२।।

अथ भगवन्मार्गप्रवृत्तानामेकान्तिकभक्तानां भक्तिं सिसावयिषूणां तत्साधनोपायान् विवेकधैर्याश्रयान् स्वस्वासाधारणलक्षणलक्षितान् विवेक्तुमादौ तानसाधारणस्वशब्देन निर्दिशन्ति।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ।।१।।

रक्षणीये स्वीकार्ये। तत्र विवेकादयः कीदृशा इति स्वरूपजिज्ञासायां प्रथमोद्दिष्टस्य विवेकस्य फलितस्वरूपमाह**र्विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति** इति तुशब्दः प्रसिद्धिद्योतनार्थः। अन्यथाऽप्रमाणिकत्वं स्यात्। हरति त्रिविधमपि भक्तदुःखम् इति व्युत्पत्त्या सकलदुःखहारिसमभिव्याहारिहरिपदेन, ''भगवान् करिष्यति न वे''त्यविश्वासो निरस्तो वेदितव्यः। हरिपदनिर्वचनन्तु महाभारते स्फुटम्। तद्यथा, ''हराम्यघं हि स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहम्। वर्णश्च मे हरिच्चेष्टस्तस्माद्धरिरहं स्मृत'' इति। सर्वमैहिकं पारलौकिकं निजेच्छातो जीवादृष्टप्रयत्नादिनिरपेक्षालौकिकस्वेच्छात इति अर्थः। एवं वाक्यार्थानुसन्धानेन स्थेयम् इति तात्पर्यम्।

''ननु लोके भगवद्भक्तानामपि प्रौढदुःखदूरीकरणार्थं भगवान् प्रार्थनीय एव। तस्मादशक्यार्थोपदेश एवायं पङ्गोर्गिरिलङ्घनवद्विवेकोपदेश इत्यत आहुः।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।
सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ।।२।।

वेति विकल्पे विवेकास्फूर्त्तिदशायाम्। **ततः** प्रार्थनातः किं **स्यान्न** किमपि इति अर्थः। कुत इत्यपेक्षायां, **स्वाम्यभिप्रायसंशयात्** इति। स्वामी प्रभुः,

तस्याभिप्रायस्य चिकीर्षितस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् संशयो भवत्येव। यत्र ''फलानुमेया: प्रारम्भा: संस्कारा: प्राक्तना इवे''त्यादिषु लौकिकप्रभ्वभिप्रायोपि पूर्वं ज्ञातुमशक्यस्तत्र किं वाच्यमलौकिकप्रभोरभिप्रायस्येति। ननु भक्तेच्छापूरणाय भगवानशक्यमप्यर्थं सम्पादयति, तच्च, बह्वायाससाध्यमस्मदादिवद्भगवतोपि कदाचित् स्याद् इति तदर्थं पुन: -पुन: प्रार्थनया भगवान् स्मार्यते। (भगवतस्तत् कार्यं स्मार्यत) इत्यत आहु: **सर्वत्रेति**। सर्वस्मिन् काले देशे च यत्किञ्चिद्वस्तुमात्रं **तत्सर्वं तस्य** भगवत एवेत्यर्थ:। हिशब्द: प्रसिद्धौ। सा च ''अहं सर्वस्य जगत: प्रभव'' इत्यादिषु ज्ञेया। ननु भक्तार्थं भगवतोप्यकालवस्तुसम्पादनमायाससाध्यं भविष्यति इति चेत्तत्राहु: **सर्वसामर्थ्यमेव** चेति। न हि भगवतोपि कालमपेक्ष्यैव कार्यकरणं सम्भवति, प्रत्युत कालस्यैव भगवदधीनत्वाज्जन्यत्वाच्च तत्सापेक्षत्वम्। चकारात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सामर्थ्यमपि द्योत्यते ।।२।।

कदाचिदत्यन्तापेक्षितमपि कार्यं भगवान्न करोति, तेन भक्तमनस्यभिमानो भवेन्मया भजनार्थमपि प्रयत्नो न कर्त्तव्य इति, तन्न क**ार्यमित्याहुरभिमानश्च सक्त्याज्य** इति।

अभिमानश्च सक्त्याज्य: स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्त:करणगोचर: ।।३।।
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।
आपद्रत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।।४।।

चकारात् कार्यानिष्पत्तिनिमित्तग्लानिरपि। समित्यनेन बाह्याभ्यन्तरभेदराहित्येन त्याग: सूचित:। तत: हेतु:, **स्वाम्यधीनत्वभावनात्** इति। सर्वस्वनिवेदनेनान्त:करणमपि निवेदितमेव। अभिमानश्चान्त:करणधर्म:। स च सुतरां न कार्य इतिभाव:। एवं स्वत: कार्यमात्रं न कर्तव्यम् इति प्राप्ते भगवदाज्ञायां **विशेषमाहुर्विशेषतश्चेदाज्ञा** स्यात् इति। देहसम्बन्धि देहनिर्वाहकं कार्यं दैहिकमित्युच्यते। तच्च, सर्वदाप्यनिषिद्धमेव।

विशेषतो विशेषनिमित्तात् विशेषकार्यकरणार्थम् इति यावत्। सापि न बाह्यत:, किञ्चान्त:करणगोचरोन्त:करणपूर्विका यदि स्यात्, तदैव दैहिकाद्भिन्नं विशेषगत्यादि भाव्यं कार्यम् इति अर्थ:। गतिपदेन क्रियामात्रं लक्ष्यते। आदिपदेन प्रार्थनमपि कार्यमध्ये क्वचित्सम्भवति चेत् तत् कर्तव्यमेवेति सूच्यते। ननु विशेषाज्ञायामपि यद्यापत्कालादिवशाद् भगवदाज्ञप्तकार्यानिष्पत्तिस्तदापि किं भगवदाज्ञप्तमितिकृत्वा प्राणादिभयं सोढ्वापि हठेनाशक्यमपि कार्यं कर्त्तव्यमेवोत नेति प्राप्त **आहुरापद्रत्यादिकार्येषु** इति। भगवदीयानामेवंविधदशाप्राप्तौ भगवानेव हेतुरिति भगवदाज्ञोल्लङ्घनदोषोपि न भवति इति ज्ञेयम्। 'गति'शब्देन प्राप्तिरुच्यते। 'आदि'पदेनाशक्यार्थ उच्यते। तेनाऽऽपत्कालीनाशक्यकार्येष्वपि सर्वेषु हठ आग्रह:

सर्वथा सर्वप्रकारेण त्याज्य:। चकारादापन्निवृत्तौ पुनराग्रह: स्वीकार्य एवेत्यर्थ:। यद्वा, आपद्रतिरादिर्येषु कार्येषु कृतेषु भवति तेष्वाग्रहो न कार्य इति। भगवदनुक्तेष्वपि कार्येष्वनापद्यपि स्पृहा न कार्येत्याहुरना**ग्रहश्च सर्वत्रेति। कर्तव्यान्तरमप्याहुर्धर्माधर्माग्रदर्शनम्** इति। धर्मश्चाधर्मश्च तयोरग्रं पर्यवसितफलं तद्दर्शनमप्रमादेन तदनुसन्धानम्। विहेतेपि कार्ये यस्मिन् कृते स्वधर्मत्याग: सम्भाव्यते, तन्न कार्यम्, स्वधर्मत्यागस्याधर्महेतुत्वात्। स्वधर्माविरोधिनश्च धर्महेतुत्वात् तत्कार्यम् इति भाव: ।।४।।

उपसंहरन्ति

विवेकोयं समाख्यात:

क्रमप्राप्तं धैर्यं निरूपयन्ति -

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।
त्रिदु:खसहनं धैर्यमामृते: सर्वत: सदा ।
तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ।।६।।

त्रयाणां दु:खानां समाहारस्त्रिदु:खम्। दु:खस्य त्रिविधत्वं त्वाधिभौतिकादिभेदेन कायिकादिभेदेन वा कालकर्मस्वभावैर्वा। तस्य **सहनं** तत्प्रतीकारं विनानुभव:। **तदप्यामृते:।** मृतिर्मरणं वर्तमानदेहत्याग:, तं मर्यादीकृत्य। तदपि न यत्किञ्चित् परिगणितनिमित्तात् किन्तु, **सर्वतो** भगवदिच्छातो यद्यदुपस्थितं तत्तत्सर्वं सोढव्यमेवेतिभाव:। तदपि न कालनैयत्येन किन्तु सर्वदा। **आमृते**रित्यनेन सार्वकालीनत्वे सिद्धेपि सर्वदेति पुन: स्पष्टार्थं वचनम्। नन्वनवरतदु:खसहनेन शरीरशोषात् तन्नाशोपि स्यात्, तन्नोचितम् इति न दु:खं सोढव्यम् इति **चेत्तत्राहुस्तक्रवद्देहवद्भाव्यम्** इति देहहानौ शोको न कार्य इति अर्थे प्राक्तनं दृष्टान्तत्रयं ज्ञेयम्। तच्च त्रयं, तक्रवज्जडवद्गोपभार्यावत् इति अन्वयस्तु, देहवता भाव्यं देहवद्भाव्यम्। तच्च देहवता पुरुषेण शरीरादिकमेवात्मीयत्वेन भाव्यमनुसन्धेयं दृश्यते, तादृशन्तु न कार्यम्। तत्र कीदृगनुसन्धानं कार्यम् इति अपेक्षायां तक्रादिषु यथा तेषामनुसन्धानं तथा स्वदेहेपि कार्यम् इति अर्थ:। तक्राख्यायिका तु, ''हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं देशान्तरे विधिवशाद्गणिकापि जाता। पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्'' इत्यादौ प्रसिद्धा। जडो जडभरतस्तदाख्यायिका पञ्चमस्कन्धतोऽवगन्तव्या। गोपैर्भ्रियते धार्यते पोष्यते वेति गोपभार्यो, (देह:) गोपीनां भगवत्सम्बन्धात् पूर्वकालीन: प्राकृतो देहस्तदपगमे यथा गोपीनां न शोकस्तथा स्वदेहेपि कार्यम् इति अर्थ:। अत्र गोपभार्याशब्दे उच्यमाने पुंवद्भावानुपपत्ति: तेनान्यथा व्याख्यातम् ।।६।।

भगवदिच्छात: प्राप्ते दु:खे यथाऽप्रतिकारस्तथा तदिच्छाप्राप्ते स्वप्रयत्नं विनैव दु:खप्रतीकारेपि मम सुखं मास्त्विति बुद्ध्या दु:खाभावसम्पादकहेतुनिवृत्तावाग्रहं न

कुर्याद् इति आहुः **प्रतिकारो यदृच्छात** इति।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।

भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ।।७।।

भार्यादीनाम् इति। भार्या आदिर्येषां पुत्रादीनां **तथैवान्येषां** पोष्यवर्गाणां, **असतश्च** भार्यादिमध्ये स्वतोऽत्यन्तनिकृष्टस्य सदोषस्याप्याक्रमं तत्कृततिरस्कारमपि **सहेतेत्यर्थः।** अत्र सहेद् इति परस्मैपदं ''सह मर्षण'' इत्यात्मनेपदिनो न सङ्गच्छते यद्यपि, तथापि सहनं सह इति व्युत्पत्त्या 'अच्'प्रत्यये कृते, पश्चात्सहकरोतीत्याचरति इति वा परस्मैपदं ज्ञेयम्।

तथा पूर्वं भगवदिच्छया प्राप्तस्य स्वप्रयत्नं विनैव सुख – दुःखादेः सहनमुक्तमिदानीं स्वकृतिसाध्यं सुखादिकं न कार्यम् इति आहुः **स्वयम् इति।**

स्वयमिन्द्रिकार्याणि कायवायनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ।।८।।

इन्द्रियकार्याणि। तत्तदिन्द्रियसाध्यविषयभोगः। तं तु कायेन वाचा मनसा त्यजेत् इति अर्थः। कायावायनसेत्यत्र द्वन्द्वैकवद्भावादेकवचनं ज्ञेयम्। दुःखं शोढुमशक्तेनापि तदर्थं वृद्धसेवनवैराग्यादिकं कर्तव्यं, न त्वाहत्य धैर्यमेव। तत्र हेतुः, **स्वस्यासामर्थ्यभावनात्** इति। भावनं परिदृश्यमानत्वम् इति।

कर्तव्यान्तरमाहुरशक्य इति।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

सर्वप्रकारेणाशक्येऽर्थे **हरिरेवास्ति** मम शरणम् इति बुद्धिमाश्रित्य तिष्ठतः सर्वमैहिकं पारलौकिकं च भवेद् इति अर्थः।

उपसंहरन्ति – एतद् इति।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ।।९।।

क्रमप्राप्तमाश्रयं निरूपयन्ति आश्रयोत इति। अत इति धैर्यनिरूपणानन्तरम् इति अर्थः। आदौ फलितं रूपम् आहुः – ऐहिकेति।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ।।१०।।

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ।।११।।

अहमारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव यथान्तेवास्यतिक्रमे ।।१२।।

इहास्मिन् जन्मनि तदुपलक्षिते काले वा भवदैहिककार्यमुच्यते। परोऽस्मादन्यः,

अन्तरिक्षलोकमारभ्य ब्रह्मलोकपर्यन्तः। चकाराद्भगवदिच्छया कदाचिन्नरकभोगः सम्भाव्यते चेत्तत्रापि सर्वप्रकारेण कायेन वाचा मनसा च हरिरेव शरणं ममेति चित्ते निश्चित्य स्थेयम् इति अर्थः। भगवदीयानां नरकः स्वर्गादिरेव नतु तामिस्रादिः। अत एव विष्णुपुराणेऽप्युक्तम् ''वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु, तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्'' सामान्यतः सर्वकार्येषु शरणगमनमुक्तम्, इदानीं तदेव पुनर्निमित्तविशेषेष्वप्युच्यते। तानि निमित्तानि 'दुःखहानौ', इत्यारभ्य ''सर्वथा शरणं हरिरि''त्येतत्पर्यन्तोक्तानि ज्ञेयानि। दुःखस्य हानौ प्राप्तायामपि हर्षवशेन शरणविस्मरणं न कार्यम् इति अर्थः। एवं सर्वत्र योज्यम्। पापे प्रारब्धवशाज्जाते, भये शत्रादिकृते, काम इच्छा लौकिकालौकिकसाधारणी, आदिपदेन धर्मादिरपि, तेषामपूरणेऽनिष्पत्तौ भक्तेषु द्रोहे जातेपि, अन्यत्र भक्तिं दृष्ट्वा स्वस्य भक्तिराहित्येन स्पृहामात्रेपि, भक्तैः स्वस्यातिक्रमे कृतेपि तेषु प्रतिकूल्यं न कार्यम् इति भावः। अशक्ये स्वयमन्यद्वारा वा कर्तुमयोग्ये अर्थ, सुशक्ये अनायासेन कर्तुं योग्ये अर्थे, अभयत्रापि वा शब्दोऽप्यर्थे। अहमारेण कृते अहमारकृते, पोषणञ्च रक्षणञ्च पोषणरक्षणे। पोष्याणां पोष्यवर्गाणां पोषणरक्षणे अहमारेण कृतेऽपि। चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः। पोष्यवर्गस्य दैववशादतिक्रमे सति। अन्तेवासी भगवन्मार्गजिज्ञासुः शिष्यः। सर्वार्थे सर्वस्मिन्नुक्तानुक्तरूपेर्थेपि हरिरेवाश्रयणीय इति अर्थः ।।१२।।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ।।१३।।

अलौकिकमनः सिद्धाविति निमित्तसप्तमी। तेनालौकिकमनःसिद्ध्यर्थमेव **सर्वार्थे हरिरेवाश्रय इति अर्थः** पर्यवसितः। **एवम् इति**। विवेकादीनां स्वरूपं यादृशमुक्तं **तादृशं सदा चित्ते** सम्यगनुसन्धयेम्। **वाचा** च वचनेनापि परबोधनार्थं स्वार्थमेव वा परिकीर्त्तयेत् परितः सर्वतः कीर्त्तयेत्। चकारात् कायव्यापारयोग्यं कुर्यादपि ।।१३।।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ।।१४।।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ।।१५।।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावन्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ।।१६।।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।१७।।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितो विवेकधर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्यस्य भजनं तत्रेति। तत्र तस्मिन्नाश्रयरूपेर्थे सम्पन्ने, **अन्यस्य भगवद्भक्तव्यतिरिक्तस्य भजनं सेवनं स्वतो गमनं** स्वस्यानाकारितस्य स्वस्य तत्समीपे गमनम्। चकारात्तेन सह शारीरसम्बन्धोपि न कार्यः। **कार्यमात्रेपि** कर्तुं विहिते स्वधर्माऽविरोधिनि कर्तव्येर्थे प्रार्थना कार्येतिशेषः। प्रार्थनीयो भगवान् तद्भक्तो वा। अत एव विष्णुधर्मोत्तरे शमरगीतासु ''अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित् क्रियां नारभते हरिम्, असम्भिन्नार्यमर्यादस्तस्य तुष्यति केशव'' इति। **तथान्यत्रेति**। यथा भगवति प्रार्थना तथा अन्यत्र विरोधिनि विशेषेण (तां) वर्जयेत्। यद्वा, भगवति विहिते कार्ये स्वधर्माविरोधिनि प्रार्थना, तथा अन्यत्र स्वधर्मविरोधिनि (कार्ये) न कार्येति। ननु भगवत्प्रार्थनायामपि भगवांस्तु साक्षान्न वदत्येव किमपि, किन्त्वाचार्योक्तसमेतग्रहेणानुमीयते, इदमुक्तमिदं नोक्तम् इति। तत्र जीवानामविश्वासः सम्भावित इति **चेत्तत्राहुरविश्वासो न कर्तव्य** इति। आचार्योक्तमार्गे यद्यविश्वासस्तदा कृतं सर्वं व्यर्थं भवेद् इति अर्थः। अविश्वासस्य महाबाधकत्वानुसन्धानेन सर्वथा स न कार्य एवेत्यर्थः। विश्वासदाढर्च्यार्थं किञ्चित्स्मरणीयमाहुर्ब्रह्मास्त्रचाकाविति। ब्रह्मास्त्रञ्च चातकश्च तौ भाव्यौ, विश्वासार्थं स्मरणीयौ। अत्रायं भावः। यथा हनुमान् ब्रह्मास्त्रेणाप्रतिकार्येण बद्धोपि बन्धकानामविश्वासेन मुक्तः। पश्चादुद्यमः सर्वोपि व्यर्थो जातः। अत्राविश्वासस्य महादोषहेतुत्वे ब्रह्मास्त्रं दृष्टान्तः। विश्वासमात्रस्य सर्वकार्यसम्पादकत्वे चातको दृष्टान्तः। स यथा चातकः कश्चन पक्षी यथा वर्षासु महज्जलमप्यनास्वाद्य स्वातिजलमल्पमप्यास्वाद्य पुनर्वर्षपर्यन्तं तत्प्रतीक्षया जीवन् यथा पूर्वमेव तिष्ठति। तस्य तु सर्वं स्वातिबिन्दुविश्वासेनैव योगक्षेमादिनिर्वाहो यथा, तथा सर्वं विहायाचार्योक्तमार्गविश्वासेन सर्वं भवेदेवेत्यत्र तात्पर्यम्। प्राप्तं स्वमार्गमर्यादया कर्तव्यत्वेन प्राप्तं सेवेत कुर्याद् इति अर्थः। निर्ममो निरहमार इति अर्थः। स्वयं बहुज्ञत्वाद्यभिमानेनाचार्योक्तौ कुसृष्टिकल्पनं न कार्यम् इति भावः। यथाकथञ्चित् इति। लोकवेदकुलाचारप्राप्तानि कर्माणि येन केनापि प्रकारेण कुर्यान्न तु परित्यजेत्। उच्चञ्च, अवचञ्च, अच्चावचं, तानि उच्चावचानि, उत्कुष्टनिकृष्टानि। यद्यपि भगवद्धर्मापेक्षया सर्वाण्यन्यानि कर्माणि हीनान्येव, तथापि लोकानुसारेणोत्तमाधमत्वं ज्ञेयम्। ईदृशामपि सर्वथा करणं भगवानेवाह, ''सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्''। आश्रयस्य विवेकधैर्यापेक्षयाऽत्यावश्यकत्वं कर्मज्ञानोपासनादिभ्योपि सर्वथा साधकत्वञ्चाहुः **किं वेति**। वेति पक्षान्तरे। विवेकधैर्याद्यक्षमस्य महापापपतितस्यापि यथोक्ताश्रयाश्रयणेनैव सकलपुरुषार्थसिद्धिरित्यर्थेन **बहुना प्रोक्तेन** पुनः पुनर्वचनेन किम्? न किमपि इति अर्थः।

उपसंहरन्ति एवम् इति। एवममुना प्रकारेण **यदाश्रयणं तत् प्रोक्तम्।** आश्रयणरूपं वस्तु प्रोक्तम् इति अर्थः। **सर्वेषां** पतितापतितस्त्रीशूद्रसाधारणायम्। अत एव भगवताप्युक्तम्, ''मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येपि स्युः पापयोनयः, स्त्रियो वैश्यास्तथा

शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् इति आदिना। **सर्वदा** समयानियमेन। हितमतिसौख्यसम्पादकम्। ननु भक्तिज्ञानकर्मादिषु सत्सु सर्वं विहाय कथं तदेकपरतया स्थेयमित्यत आहुः कलाविति। भक्तिरादिर्येषां, कर्मज्ञानादयो **दुःसाध्या** देशकालद्रव्यादिसाधनवैगुण्येन कर्तुं न शक्या इति अर्थः। हिशब्दो लोकवेदप्रसिद्धिद्योतनार्थः। ननु लोके भवतु भक्त्यादीनामस्माकं तदकरणे किमायातम्? इति विशेषजिज्ञासायां स्वसम्मतिमस्मिन्नर्थे विश्वासार्थमाहुर्मे**मतिरति। मतिः** सम्मतिरित्यर्थः।

न शक्यं मे विवेकादिनिरूपणमथापि तु।
त्वत्पदाम्बुजसक्ध्यानाध्यस्ताधीः कृतवानहम् ।।१।।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणशरणश्रीमद्रघुनाथकृतौ विवेकधैर्याश्रयदीपिका समाप्ता।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्भगवद्वदनानलावतारश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगो। श्रीगोपीशविरचिता विवृतिः ।

श्रीमदाचार्यचरणनखचन्द्ररुचे नमः ।

हृदि प्रविश्यं यद्ध्वान्तं निर्धूतं मे यया स्वतः ।।१।।

यत्कृपातो विवेकादिधर्माः स्वीये भवन्ति हि ।

तत्पादतलसम्बन्धिरेणुः शरणमस्ति मे ।।२।।

अथ भक्तिमार्गाङ्गीकारेण भगवतो दासत्वं प्राप्तस्य सेवायां प्रवृत्तस्य सेवानिर्वाहेण भक्तिदाढर्त्यार्थं नवरत्नोक्तचिन्तात्यागकथने विवेकधैर्याश्रया यद्यपि सङ्क्षेपत उक्तास्तथापि विवेकादीनां विशेषविज्ञानाभावे सेवायां तादृशी दृढता न भविष्यति इति स्वीयानां विशेषेण तद्दाढर्त्यार्थं श्रीमदाचार्यचरणा विवेकधैर्याश्रयान् विस्तरतो निरूपयन्ति विवेकेति।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ।।१।।

सेवायां प्रवृत्तस्य प्रथमं विवेकः सर्वथापेक्षितः। ततो धैर्यम्। एतद्द्वयसिद्ध्यर्थमाश्रयश्चेति क्रमः। एवं सति सर्वात्मनाश्रय एव कृते सर्वं सेत्स्यति इत्यन्ते तन्निरूपणम्। तत्र प्रथमं विवेकलक्षणं निरूपयन्ति **विवेकस्त्विति। हरिः** सर्वदुःखहर्त्ता। सर्वं लौकिकं स्वप्रयत्नसाध्यं योगक्षेमादि। अलौकिकं भगवत्सेवौपयिकं च स एव **करिष्यति**, न तु सेवां विहाय स्वप्रयत्नादिकं कर्त्तव्यम् इति **प्रथमो विवेकः।** यतः सर्वेषामपि दुःखहर्त्ता स एव। मम त्वङ्गीकृतस्यापेक्षितं करिष्यत्येवेति विश्वासेन सेवैव कार्या, न तु प्रयत्नादिकम्। तत्करणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धादिकं भवति इति एतदेव ''चिन्ता कापि'' इति श्लोके निरूपितं नवरत्ने। ननु प्रार्थनाभावे कथं करिष्यति **तत्राहुर्निजेच्छात** इति। स अलौकिकः प्रभुः स्वकीयानामपेक्षितं जानाति। सेवामपि जानाति इति स्वेच्छयैव करिष्यति न प्रार्थनामपेक्षत इति प्रार्थना न कार्येतिद्वितीयो विवेकः। एतदेव ''सर्वेश्वरश्च सर्वात्मे'' त्यत्रोक्तं नवरत्ने ।।१।।

ननु प्रार्थना कुतो न कार्या, तत्राहुः प्रार्थिते वेति।

प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ।।२।।

कृतेपि प्रार्थने किं स्यान्न किमपि इति अर्थः। तत्र हेतुः। स्वा**म्यभिप्रायसंशयात्।** भगवान् स्वेच्छयैव दास्यति, नान्यथेति, किमर्थं स्वधर्महानिः **कर्त्तव्येति तृतीयो विवेकः**। किञ्च, स्वस्य प्रयत्नकरणेपि भगवांश्चेन्न दास्यति तदा प्रतिबन्धादिना तन्न सेत्स्यति। अथवा सर्वत्र स्वापेक्षितवस्तुनो अभावात्तत्प्राप्तिर्न स्वशक्या[१] अथवा तद्वर्ततेपि तथापि तत्प्राप्तिसाधने सामर्थ्यं नास्ति। भगवतस्तु **सर्वत्र** तत्तद्वस्तु सिद्धमेवास्ति, अभावे वा तदैव तत्सम्पादने **सामर्थ्यमपि**[२] वर्तत इति। असाध्यमपि भगवान् साधयति इति तत्सेवां विहाय स्वप्रयत्नादिकं वृथेति **चतुर्थो विवेकः।**

तमेव निरूपयन्ति **सर्वत्रेति।** तस्य भगवतः **सर्वत्रैव सर्वं** वस्तु सिद्धमेवास्ति, अभावेपि सर्वं सम्पादयितुं **सामर्थ्यं** वर्तत इति। सर्वत्र यत्र-यत्र यद्यद्वस्तु वर्तते तत्सर्वं भगवत एव, स्वाज्ञानेन लोकाः स्वत्वं मन्यन्त इति। यस्य यदपेक्षितं तदपि साक्षात्परम्पराभेदेन भगवानेव ददाति। स्वाज्ञानेन मया प्रयत्नेन कृतम् इति मन्यन्त इति मम पूर्वसिद्धमपि भगवतैव दत्तं, साम्प्रतं तदङ्गीकृतस्य तु दास्यत्येवेति निश्चयेन सेवैव कर्त्तव्या न प्रार्थनेतिभावः सूचितः ।।२।।

ननु किञ्चित्कालं सेवां कुर्यादितरकाले चेदन्यत्कार्यं करोति, तदा को **दोषस्तत्राहुरभिमानश्चेति।**

अभिमानश्च सक्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

समर्पणानन्तरं स्वदेहादिषु स्वत्वेनाभिमानस्त्याज्यः। तत्र हेतुः। **स्वाम्यधीनत्वभावनात् इति।** स्वतन्त्रत्वेनाभिमानात्तत्तद्विषयेषु देहेन्द्रियाणां विनियोगो भवति इति तत्त्यागेन तेषु सर्वेषु भगवति समर्पितत्वात्तदधीनत्वभावनं कार्यम्; एवं सति केवलं भगवदधीनत्वानुसन्धानेन तद्व्यतिरिक्तकार्यकरणे दोषस्फूर्त्या स्वस्वामिसम्बन्धिकार्यमात्र[३] एव स्वधर्मस्फूर्त्या च प्रभुसेवामेव[४] करिष्यति, न त्वन्यद्, दोषरूपत्वाद् इति **पञ्चमो विवेको निरूपितः**। एतदेव ''निवेदनं च स्मर्तव्यम्'' इत्यस्य विवरणे ''सर्वदा सर्वांशेन तदीयत्वानुसन्धानेन

---

१. 'स्वशक्त्या'झे २. अस्ति इति पाठः । ३. ''कार्यकरण एव'' इतिपाठः । ४. ''प्रभुकार्यमेव करोति'' इतिपाठः।

तथा न भविष्यति'' इति उक्तं **श्रीप्रभुचरणै:।** किञ्च। यथा स्वदेहादिष्वभिमानस्त्याज्यस्तथा देहादिसम्बन्धिभार्यापुत्रादिष्वपि स त्याज्य:। तेपि स्वात्मना सह भगवतैवाङ्गीकृता इति तदधीना इति तेषामपि योगक्षेमं प्रभुरेव करिष्यति इति सर्वदानुसन्धानेन तदर्थमपि प्रयत्नादिकरणं न भविष्यति इत्यपि भावो ज्ञापित:। **तत्राप्यभिमान:** सम्यक् सवासनस्त्याज्यो यथा तद्वासनापि न तिष्ठति। एतदेव ''चिन्ता कापि''इति श्लोके ''लौकिक्यलौकिकी च सा त्याज्ये''त्युक्तम्।

एवं श्रीमदाचार्याज्ञया विवेकादिना सेवाकरणे स्वापेक्षितवस्तुज्ञापिका भगवदाज्ञा, तं प्रत्याचार्याज्ञातो विशिष्टा चेज्जायते[1] तदा साज्ञा कर्तव्या, **तदाहुर्विशेषत** इति।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्त:करणगोचर: ।।३।।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

चेद्विशेषत: सेवाविषययिण्**याज्ञा स्यात्तद**ा भगवदपेक्षितार्थज्ञाने **तद्विशेषगत्यादि कार्यं** कर्त्तव्यम्। नो चेदाचार्याज्ञानुसारेणैव कृति: कार्या सेवायाम् इति भाव:। ननु साज्ञा कथं ज्ञायते ? **तत्राहुरन्त:करणेति।** भगवदीयस्यान्त:करणे **गोचर:**, साज्ञा भवति, स्वप्नद्वारा तां ज्ञापयति इति अर्थ:। अथवा एवं **सेवाकरणे यत:** स प्रभुरन्तकरणगोचरो भक्तानामन्त:करणे मनस्यात्मनि वा, **अन्त:करणं** ज्ञानादिकार्यकरणं येनेत्यन्त:करणे आत्मा तत्र स्थितो भवति इति शेष: ।।३।।

एवं **सति** तादृक्प्रकारेण सेवाकरणे भक्तस्य सर्वांशे आत्मस्वरूपत्वेन भगवानेव स्फुरति इति साज्ञापि ज्ञायत इति। **तदा विशेषगतिर्भ**गवत्स्वरूपलीलयो: सम्बन्धिनी या विशेषगति: सेवायां ज्ञाता भवेत् तदादि सर्वं स्नेहभावेन भाव्यं कर्त्तव्यं, नोचेदाज्ञानुसारेणैवेत्यर्थ:। एतदेव 'सेवाकृतिरि'तिश्लोके निरूपितं **नवरत्ने।** ननु कदाचिल्लौकिककार्येष्वपि भगवदाज्ञा विशेषेण भवेत्तत्राहुर्भिन्नम् इति। **दैहिकाद्देहसम्बन्धिपुत्रादि** विवाहोपनयनरूपाद्भिन्नं यथा भवति तथाज्ञा भवति, न तु लौकिककार्ये विशिष्टाज्ञा। तेन लौकिकं तु सर्वसमर्पणानन्तरं सर्वस्य तदीयत्वानुसन्धानेन तद्दत्तप्रसादत्वेन तावन्मात्रमेवाश्यकं यत्तत्कर्तव्यं, न तु विशेषोत्साहेन धनादिव्ययादिकं कर्तव्यम् इति आदिरूप: षष्ठो विवेको निरूपित:। अथवा **भिन्नम् इति विशेषगत्यादिविशेषणम्**। तेन दैहिकाद्भिन्नविशेषगतिकरणकथनेन विशेषाज्ञापि दैहिकविषयिणी न भवत्येवेत्युक्तं भवति, अनर्थरूपत्वात्।

---

१. भवेदिति पाठ:।

ननु सेवायामपेक्षितधनादिसाधनाभावे सा कथं निर्वहति ? तदा ऋणादिकमपि कृत्वा सामग्र्यादिकं कार्यं (सम्पादनीयं) न वेति, **तत्राहुरापद्गत्यादि इति।**

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।।४।।

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यं तु विनिरूप्यते ।।५।।

आपत्प्राप्तौ यानि कार्याणि भगवद्विषयकाणि, तेषु हठो न कार्य:। ऋणं कृत्वापि मया सर्वं कर्तव्यमेवेति हठो न कार्य: किन्तु यथालाभसन्तोषेण प्रयत्नाभावेन यत्सम्पन्नं भवति, तदेव समर्पणीयम्, नान्यत्। मार्गस्थित्या यदेव समर्पयिष्यति तदेव साक्षादङ्गीकरिष्यति इति भाव:। एतदेव ''प्राप्तं सेवेत निर्मम'' इत्यग्रे वक्ष्यन्ति च। यत्र भगवत्कार्येष्वपि हठो न कार्यस्तत्र लौकिककार्येषु किं वाच्यम् इति कैमुतिकन्यायोपि सूचित इति **सप्तमो विवेक:** ।।४।।

ननु वैदिकेषु का **व्यवस्था ? तत्राहुरनाग्रह इति। सर्वत्र** स्मार्तश्रौतादिधर्मेषु अनाग्रह एव कर्तव्य:। भगवत्सेवामपि विहाय स्मार्तश्रौतादिधर्माचरणं सर्वथा कर्तव्यम् इति आग्रहो न कर्तव्य:। किन्तु भगवदाज्ञया प्राप्तवाश्यकं कर्म सेवानवसरे कर्तव्यम् इति अर्थ:। चकारात्साक्षाद्भगवत्सम्बन्धिव्यतिरिक्तसर्वेष्वप्यनाग्रह एव कर्तव्य इत्यष्टमो विवेक:। ननु वैदिकधर्मेष्वनाग्रह: कथं भवेत्तत्राहुर्धर्माधर्मेति। धर्माणां स्मार्तादीनामधर्माणां तत्तदकरण**जनितानामग्रदर्शनं** पर्यवसानविचार: कर्तव्य:, यस्मिन्कृते अधर्मो भवेत् स न कर्तव्य इति भाव:। स्मार्तश्रौतभगवद्धर्मास्तु उत्तरोत्तरबलिष्ठा:, तत्र यथा श्रौतविधौ स्मार्तत्यागे न दोषस्तथा भगवद्धर्मकरणे उभयविधस्यापि त्यागे न दोष:, सर्वाधिकबलवत्त्वाद् इति विचार्य तद्धर्माणां गौणत्वास्वधर्मत्वाभावाच्चानाग्रह एव कर्तव्य इति नवमो विवेक उक्त:। यत्तु कर्मादिकरणं तद्भगवदाज्ञया मार्गेऽप्रामाण्यशमाभावायेति ज्ञेयम्। एवं भगवत्सेवाविषयकविवेकानुक्त्वोपसंहरन्ति **विवेकोयम् इति।** भगवत्सेवायां **प्रवृत्तस्यायं विवेक:** सम्यक्प्रकारेण विस्तरेण आख्यात:। एतादृशविवेकेन प्रवृत्तस्य सेवानिर्वाहो भविष्यति इति भाव:। एवं विवेकेन सेवायां प्रवृत्तस्य बहिर्भजनसिद्धिप्रकारमुक्त्वा धैर्यं विना सेवा न सिद्ध्येद् इति मुख्यमान्तरम् इति तत्सिद्ध्यर्थं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यम् इति। पूर्वमपि 'चित्तोद्वेगम्' इत्यादिना धैर्यं निरूपितं, साम्प्रतन्तु विशेषेण निरूप्यत इति विशब्दार्थ:। **तुशब्द: धैर्योपक्रमज्ञापक:** ।।५।। तल्लक्षणमेवाहु: **त्रिदु:खम् इति।**

त्रिदु:खसहनं धैर्यमामृते: सर्वत: सदा ।

तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्रोपभार्यवत् ।।६।।

त्रयाणामाधिभौतिकादीनां दुःखानां सहनं धैर्यमुच्यते, तत्र देहसम्बन्धजनितं दुःखं भौतिकं, कामादिजनितमिन्द्रियसम्बन्धि तद् आध्यात्मिक, परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा भगवत्कृतं भगवदर्थस्वापेक्षितकरणविलम्बजनितं तदाधिदैविकम्। तेषामसहने चित्तव्याकुलतया सेवा न सिद्ध्येत्तदभावे सेवकस्य स्वधर्महानिरेवेति सेवासिद्ध्यर्थं तत्सहनमेव कार्यम् इति धैर्यमुक्तम्। तदप्यामृतेः मरणपर्यन्तं, अथवा यावदायुरपि चेद्भवेत्तावदपि धैर्यमेव[१] रक्षणीयम्, न त्वन्तर्निष्ठा हेया। तदपि सर्वतः देहेन्द्रियादिसर्वसम्बन्धिष्वप्येकस्य द्वयोर्वा सहनं तन्नास्ति किन्तु सर्वतः। तदपि सदा निरन्तरं तत्सहनम् इति धैर्यलक्षणमुक्तम्। अतः परं देहाभिमानस्य विद्यमानत्वाद् दुःखसहनं दुष्करम् इति दृष्टान्तेन तदभिमानाकर्तव्यत्वनिरूपणात् तदुपपादयन्ति तक्रवद् इति। तक्रं यथा निःसारं भवति हेयत्वेन तत्र नाभिमानः। कदाचित्तन्नाशेपि न दुःखं भवेत्। नवनीतन्तु तत्सारं तत्राभिमानो जायते तन्नाशेपि दुःखम् इति तद् गृह्यते तथा देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च निःसारत्वेन हेयत्वबुद्ध्या तत्राभिमानस्त्याज्यः। तत्त्यागेन तत्कृतमानापमानदुःखेष्वपि अभिमानत्यागेन दुःखं न भविष्यति इति आशयेनोक्तं **तक्रवद्देहवद् इति, तक्रवद्देहवत**ा देहादिषु तत्सम्बन्धिषु च भाव्यम् इति। अनेन भगवत्सम्बन्धिकार्येष्वेव नवनीतवदभिमानो रक्षणीय इति सूचितम्। तेन भगवदीयानां प्रभुसेवाकरण एव सुखं, तदभावे दुःखम्। न तु देहादितत्सम्बन्धिकृतं तद्भवति इति ज्ञापितम्। एवं भौतिकदुःखसहने दृष्टान्तं निरूप्याध्यात्मिकतत्सहने दृष्टान्तम् आहुः, जडवत् इति। आध्यात्मिकं दुःखं इन्द्रियादिसम्बन्धिकामक्रोधादिजन्यम्। तत्सहने जडस्य भावना कार्या। जडस्य यथा सकलेन्द्रियाणां भगवद्भावाविष्टत्वात् न तदिन्द्रियजन्यदुःखभानम्, जडत्वं च जातम्। तथा सेवायां प्रवृत्तस्यापि सकलेन्द्रियाणां तदीयात्वानुसन्धानेन स्वाभिमानाभावात् भगवत्येव विनियोगकरणे निरन्तरं तत्सेवागुणकीर्तनस्मरणावेशेन न कामादिजनितदुःखं भवेदित्याशयेनोक्तं जडवत् इति। एवं सति यावत्पर्यन्तं जडवद्भावनया निरन्तरं भगवदाविष्टत्वं भवेत्तावत्पर्यन्तं तत्तदिन्द्रियदुःखसहनेन सेवा कार्या। न तु विषयभोगादिकं कार्यम् इति। अतितुच्छत्वात्तदावेशेन भगवदावेशाभावाच्च। एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविके दृष्टान्तमाहुर्गोपभार्यवत् इति। प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते तदा गोपभार्यानां भावना कार्या। यथान्तर्गृहगतानां जारत्वबुद्धिहेतुकप्रारब्धभोगार्थं विलम्बः कृतस्तद्भोगान्तरं तत्प्राप्तिर्जाता तथा ममापि प्रारब्धभोगानन्तरं भगवान् दास्यत्येवेति धैर्येण दुःखं सोढव्यम् इति भावः। अत एवामृतेरित्युक्तम्। तासां गुणमयदेहत्यागानन्तरमेव फलं जातम् इति

१. तदपि सहनमेव कर्तव्यम् इति पाठः कपुस्तके।

तद्वदत्रापि परीक्षार्थं चेद्विलम्बते, तदा तद्व्यतिरिक्तानां भावना कार्या। यथा तासां रासारम्भे आगमनानन्तरं निषेधवाक्यश्रवणेपि यज्ञपत्नीवदन्यथाभावो न जातः किन्तु स्वापेक्षिताभावजनितदुःखभरेण स्थाणुवत्स्थितानां व्याकुलसकलेन्द्रियाणामपि तद्दुःखं सोढ्वा धैर्यमवलम्ब्य तच्छरणागतिभक्तिमार्गानुसार्युत्तरदानमेवाभूत्, न तु गृहादिषु प्रत्यागमनेच्छा जाता। तथास्यापि तादृग्भावनया विलम्बजनितदुःखसहनेन निरुपधिस्नेहेन मार्गस्थितौ भगवान्फलं दास्यति इति दुःखं सोढव्यम् इति उक्तं गोपभार्यवत् इति। किञ्च, गोपानां भार्याः, भार्यापदेन भर्तुं योग्या यद्यपि तथापि तासां तत्कृतभरणपोषणादिकं नापेक्षितं किन्तु भगवत्कृतमेव। भगवत्कृततदभावे तासां जीवनमेव न भवति। यतस्तदुपयोगाभावे सर्वमेव भरणपोषणादिसाधनं गृहादिकं त्यक्तं भवति। एतदुपयोग एव तद्भोग्यत्वेन गृहीतो भवति इति। तथा प्रभुविलम्बकरणेपि तद्व्यतिरिक्तदेहादिसम्बन्धि पूर्वोक्तं किमपि न भावनीयं किन्तु प्रभुः मम भरणपोषणादिकं करिष्यत्येवेतिनिश्चयेन धैर्येण स्थातव्यम् इति गोपभार्यपदेन ज्ञाप्यते। किञ्च, श्रीमदाचार्याणां साक्षात्पुरुषोत्तमास्यत्वेन तदुक्तवाक्यानामुपनिषद्रूपत्वादत्र भार्यापदे ह्रस्वश्छान्दसो ज्ञेयः। स्वकीयानामेतादृश्येव बुद्धिर्भविष्यति परन्तु कस्य चिद्भ्रान्तस्याशमा भवेत्तभावार्थं पक्षान्तरमुच्यते। यद्वा, गोपानां भार्यः भरणपोषणयोग्यः, अर्थात्तेषामेव भार्यजन इति यावत्। यद्वा, गोपभार्यः भार्यानां समूहो भार्यः, गोपानां भार्यस्तत्समूह इति अर्थः। एवं दृष्टान्तत्रयभावनया तत्तद्दुःखसहनेन कायमनोवाक्प्रपत्तिर्भवेत्। तथा च देहसम्बन्धिभौतिकदुःखसहने प्रथमं सेवायां प्रवृत्त्या कायिकी प्रपत्तिर्भवेत्, इन्द्रियसम्बक्ध्याध्यात्मिकदुःखसहने मनो भगवन्निष्ठं भवेद् इति तत्प्रपत्तिः। ततो भगवत्सम्बन्धितत्सहने भगवत्कृतविलम्बस्य विरहात्मकत्वेन तत्स्वभावात् निरन्तरं गुणगानकरणे वचोपि तन्निष्ठं भवति इति त्रिधा प्रपत्तिर्निरूपिता। अत्रैवं ज्ञेयं, देहेन्द्रियादिसम्बन्धिनश्चेत्प्रतिकूला भवन्ति, तदा सेवान्तरायत्वेन तेषां परित्यागः कर्त्तव्य इति सेवाप्रकरणे तत्त्वार्थदीपे निरूपितं ''भार्यादिरनुकूलश्चे''दिति, तेन तत्त्यागे स्वोपयोगाभावात्ते तिरस्कारादिकं कुर्वन्ति इति लोके दृश्यते। तथा सति भगवदीयस्य तु तेषु क्रोधादिकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धो भवेद् इति तत्सर्वं प्रभुसेवार्थं सोढव्यम् इति अत्र तत्सहनमुक्तमन्यथा तदभावे दुःखस्यैवाभावात् किं सहनं स्यात् इति भावः ।।६।।

ननु तिरस्कारादिना ते चेद् दुःखं न प्रयच्छेयुस्तदापि किं तेषां त्याग एव कर्त्तव्य इति चेत्तत्राहुः **प्रतीकार** इति।

प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ।।७।।

भगवदिच्छया **प्रतीकारः** सिद्धश्चेद्भार्यादयो ह्यनुकूला उदासीना वा भवेयुस्तदा तत्त्यागे आग्रहवान् न भवेत्किन्तु अनुकूलत्वे भार्यादिभिरपि सेवां कारयेदुदासीनत्वे

स्वयं कुर्यात्। परन्तु तेषां तथापि योगक्षेममात्रं कर्त्तव्यं न तु त्यागः। प्रतिकूलत्वे त्याग एव कर्तव्य इत्याशयेनोक्तं नाग्रही भवेत्। प्रतिकूलत्वाभावेपि सर्वथा त्याग एव कर्त्तव्य इत्याग्रहवान् न भवेत्। हठेन त्यागकरणे समीचीनानामपि भार्यादीनां क्रोधावेशेन स्वस्मिन्द्वेषकर्त्तृत्वं सम्भवति इति तेन सेवाप्रतिबन्धकः स्वयमेव भवति इति तन्न कर्त्तव्यम् इति भावः। भौतिकदुःखप्रतीकारे परमियं व्यवस्था। आध्यात्मिकदुःखप्रतीकारेपि व्यवस्थोच्यते। सकलेन्द्रियाणां स्वस्वविषयभोग्यवस्तुत्यागे दुःखं भवति। तद्भगवदिच्छया स्वभोगार्थं तेषु पुरैव प्रवृत्तिरेव न भवेत् चेत्तदा तज्जनितसेवान्तरायाभावात्तत्त्यागे आग्रहवान् न भवेत्। यतस्तादृशस्य स्रक्वन्दनादिसकलभोगसामग्री स्वप्रभुनिमित्तत्वेनावश्यमपेक्षितेति तदुपयोगे जाते तद्दत्तमहाप्रसादत्वेन स्वसौभाग्यरूपत्वेन तदुपभोगकरणे बाह्याभ्यन्तरशुद्ध्या भगवद्धर्माविष्टत्वं भवति इति न तत्त्यागः। एवं सति विषयभोगार्थं सर्वस्यापि त्यागस्तदभावे तस्यालौकिकित्वे फलमध्यपातित्वान्न तत्त्याग इति सूचितम्। इदमेवोक्तं सेवाफले, ''अलौकिकभोगस्त्विव''त्यादि आधिदैविकदुःखप्रतीकारव्यवस्थामाहुः। प्रारब्धभोगानन्तरं परीक्षानन्तरं वा भगवान् कृपया सेवोपयोगि धनादिकं दातुमिच्छेच्चेत्तदा साक्षात्परम्परया च तदिच्छया स्वप्रयत्नं विनैव तत्प्राप्तं भवति, तदपि निरुपाधिकं विहितं शुद्धं चेद् भवेत्तदा तत्त्यागे आग्रहो न कर्त्तव्यः। जन्मान्तरे प्रतिबन्धाभावार्थं मम प्रारब्धादिभोग एव भवति इति, प्रारब्धस्यापि तदधीनत्वात्। किन्तु भगवता स्वोपभोगार्थमेवेदं दत्तम् इति मत्वा सर्वं भगवदर्थमेवोपयोक्तव्यं न तु स्वार्थम् इति भावः। तथा चोक्तमपि, ''निजेच्छातः करिष्यति'' इति अत्र स्वीयानामविकृतेच्छात इति। सिद्धान्तमुक्तावल्यामपि ''भजनोपयोग्यर्थापेक्षायामपि प्रभुणैव सर्वं सम्पाद्यत इति तथा ''कृष्णं परं ब्रह्मे''त्यस्य विवरणे। एवं सामान्यत आधिभौतिकादिदुःखसहनमुद्देशत उक्तम्। अतः परं देहादिसम्बन्धिः क इत्याकाङ्क्षायां प्रथमं देहसम्बन्धिनो विशेषत आहुः भार्यदीनाम् इति। भार्यादयो भरणपोषणयोग्यस्ते देहसम्बन्दिषु स्वसमानास्तेषां भरणपोषणमेवापेक्षितं न तु धर्मः, भरणपोषणं नाम सर्ववस्तुनो देहादिपर्यन्तस्य स्वविषयको विनियोगस्तदकरणे तेतिक्रमं कुर्वन्ति, तदा तत्सर्वं सहनमेव कुर्यान्नतु क्रोधादि तत्करणे तदावेशेन सेवान्तरायो बहिर्मुख्यं स्याद् इति। तथान्येषां बान्धवानां मित्रादीनामुदासीनानां बहिर्मुखानां च पूर्वसामयिकनित्यमिलनव्यवहाराद्यकरणेनेर्ष्यया तेप्यतिक्रमं कुर्वन्ति, तस्यापि सहनमेव कर्तव्यम्। अथवा भक्तत्वेपि बान्धवानां बन्धुत्वस्वभावाद् विभागादिजनितद्वेषेणापि अतिक्रमः सम्भवति। अथ च, असतश्च स्वदासतोपि, यथा भार्यापुत्रादयो देहसम्बन्धिनस्तथा दासो धनसम्बन्धी पोष्येष्वन्तर्भवति, तेषां सङ्गेन सोपि चेदतिक्रमं कुर्यात्तदपि (दुःखं) सह्यमेवेत्यर्थः। एते तु प्रतिकूला धर्मविरोधिन उक्ताः। चकारात् स्वधर्मानुरोधिनः शिष्यभक्तादयोपि ज्ञेयाः। प्रमादतो जीवस्वभावात् शिष्योप्यतिक्रमं

चेत्करोति, भक्तोपि तदा स्वप्रारब्धादिभोग एवायम् इति भावनया धैर्येण तद्दुःखसहनमेव कर्तव्यं न तु क्रोधादि। क्रोधादिकरणे तु आसुरावेशेन सेवाप्रतिबन्धो बाहिर्मुख्यञ्च स्यात्। किञ्च, शिष्यभक्तयोरपि प्रभुसम्बन्धो वर्तते स्वकृत एव, पुनस्तत्र क्रोधकरणे तदनिष्टं कृतं भवेत्, न हि भगवदीयानामयं स्वभावो यत् (स्वकीयानां) स्वाङ्गीकृतानामनिष्टं कुर्वन्ति इति तत्सहनमेव कर्तव्यम् इति भावः।

एवं सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भार्यदीनां त्यागेन तत्कृतातिक्रमसहनं निरूप्य सेवाप्रतिबन्धकत्वेन भोगत्यागेपि तत्तदिन्द्रियजनितस्याध्यात्मिकदुःखस्य सहनम् आहुः **स्वयम्** इति।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवायनसा त्यजेत् ।

अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ।।८।।

स्वयं स्वभोगार्थं **इन्द्रियकार्याणि त्यजेत्** सेवायां प्रतिबन्धकत्वात्। तानि च त्रिधा, क्वचित् कायिकानि, क्वचिद्वाचिकानि, क्वचिन् मानसानि भवन्ति। तत्त्यागकथनेन प्राकृतविषयांस्त्याजयित्वाऽलौकिकेषु तेषु तानि योजनीयान् इति भावः। एवं सति यावत्पर्यन्तमलौकिकेषु युक्तानि भवेयुस्तावत्पर्यन्तं तत्त्यागजनितदुःखं भवति इति तत्सहनमुक्तम् इति ज्ञेयम्। एवमाध्यात्मिकं निरूप्याधिदैविकं तदाहुरशूरेणापि इति। प्रारब्धभोगार्थं परीक्षार्थं वा विलम्बकरणे स्वापेक्षितवस्तुप्राप्त्यभावात्तद् दुःखं सोढुं यद्यप्यशूरो धैर्यरहितः, यथा दरिद्रः प्रात्यह्निकभक्ष्याभावे, तथाप्यशूरेणापि तद्धैर्यं कर्त्तव्यम्। तत्र हेतुः, स्वस्येति। स्वस्यासामर्थ्यं भावनीयं, पूर्वोक्तदुःखसहने स्वप्रयत्नोप्युक्तः। भगवत्कृतविलम्बे प्रयत्न एव न, तत्करणेपि विघ्नः प्रभुकृतो भवेद् इति, स्वप्रयत्नसाध्यत्वाभावात्। स्वस्यासामर्थ्यभावनया ''तथैव तस्य लीलेत्य''नुसन्धानेन धैर्यमेव कर्त्तव्यम् इति भावः।

ननु स्वशक्यमपि पूर्वोक्तदुःखसहनमशक्यं, कुतस्तरां यत्र स्वस्य सामर्थ्यमेव नास्ति तत्सहनम् इति किमर्थमशक्योपदेश इत्यत **आहुरशक्य** इति।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तम्,

सेवायां प्रवृत्तस्य विवेकधैर्यादिस्थितौ चेदशक्तिर्भवेत्तदा **हरिरेव शरणमस्ति नान्य** इति मनसि भावनीयम्। विवेकधैर्यादिप्रयत्नकरणेपि चेदशक्तिस्तदा तदर्थं प्रभुशरणगमने दयया स एव **सर्वं सम्पादयिष्यति** इति भावः। यतः स हरिः सर्वदुःखहर्ता;, तदेवाहुः सर्वमाश्रयत इति। आश्रये कृते सर्वं सेत्स्यति। अशक्यपि शक्यं **भवेत्।** विवेकोपि भविष्यति, धैर्यमपि भविष्यति इति भावः। यद्वा, तस्मिन्कृते सर्वं स्वशक्यं सर्वथा यदशक्यं च तत्सर्वं **भवेदन्यथा** तदभावे स्वशक्यमपि न भवेद्

इति अर्थः। किञ्च, प्रयत्नकरणेपि तदेव सिद्ध्येन्नत्वन्यत्। निःसाधनत्वेन शरणागतौ तत्कृपया सर्वं युगपदेव सिद्ध्येदित्यपि ज्ञापितम्। अनेन सर्वसिद्ध्यर्थमाश्रय एव कर्त्तव्यो नान्यत् किञ्चिद् इति निश्चितम्। एतदेवोक्तं कृष्णाश्रये ''विवेकधैर्यभक्त्यादिरहितस्ये''ति। एवं धैर्यलक्षणमुक्त्वोपसंहरन्ति एतत् इति। अत्र भक्तिमार्गे पूर्वोक्तप्रकारेणोक्तं सहनस्वरूपमेतत्। अतः **परमाश्रयो निरूप्यते।**

आश्रयोतो निरूप्यते ।।९।।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

नितरां विशेषेण रूप्यते स्वरूपतः कथ्यत इति अर्थः। यद्वा, यत एतद्विवेकादिकं सर्वमाश्रयं **विना अशक्यमत आश्रयो निरूप्यते।** यस्मिन्कृते सर्वं भवति इति प्रथमं समुदायेनाश्रयस्वरूपमाहुरैहिक इति। भक्तिमार्गाङ्गीकृतस्य सेवायां प्रवृत्तस्य प्रभुसेवाव्यतिरिक्तकर्मकरणस्यास्वधर्मत्वेनैवैहिकपारलौकिकसाधनकरणाभावात् सेवायामप्यन्तरायबाहुल्येन तथात्वाभावाच्च तदुभयमपि कथं सेत्स्यति इति तत्सिद्ध्यर्थं शरणमेव सर्वात्मना भावनीयं न तु सेवां विहाय किञ्चित्साधनान्तरं कार्यम्। शरणगतौ प्रभुः स्वयमेव सम्पादयिष्यति। यतो **हरिः** सर्वदुःखहर्त्ता, स्वकीयानां निरूपधिभगवत्सम्बक्ध्यपेक्षिताभावजनितदुःखं हरिष्यत्येवेति भावः।

एवं समुदायेनाश्रयमुक्त्वा तत्रापि प्रत्येकभेदेन विशेषत **आश्रयस्वरूपम् आहुः दुःखहानाविति।**

दुःखहानौ तथा तापे भये कामार्थपूरणे ।।१०।।

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ।।११।।

भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य पूर्वोक्तदेहेन्द्रियादिसम्बक्ध्याधिभौतिकादिदुःखहानौ धैर्येण तत्कृतचित्तोद्वेगाद्यभावार्थं शरणमेव भावनीयं, तेनैव सर्वं सेत्स्यति इति प्रत्येकं तत्तत्कार्ये भावनीयम् इति अर्थः। **तथा पापे** पापनिवारणे पूर्वसामयिके प्रमादाज्जायमाने च, सेवायां भगवद्विषयके देहेन्द्रियादिभगवदपराधादिरूपे च तदेवोक्त ''महं त्वां सर्वपापेभ्य'' इति। न तु तदर्थं प्रायश्चित्तादिकं कर्त्तव्यं, तत्करणे शरणधर्मो गच्छेद् इति अर्थः। तथा **भये** राजचौरादिजनिते, पापादिविषये प्रभ्वपराधविषये च आधिभौतिकादित्रयं सर्वत्र ज्ञेयम्। **कामार्थपूरणे** इति। कामानामभिलाषाणां येर्थाः पदार्थाः, ऐहिका भगवत्सम्बन्धिनश्च। तत्राप्यैहिकं द्विविधं, दैहिकमैन्द्रियकञ्च, तत्पूरणे च, तत्रापि विशेषमाहुर्भक्तद्रोहे इति। प्रमादतो जीवस्वभाववशाद्भक्तस्य द्रोहो जातश्चेत् सोपराधः केनापि दूरीकर्त्तुं न शक्यते मर्यादायामपि, किं पुनः पुष्टिमार्गे। यथा दुर्वाससोम्बरीषविषये तथास्यापि। तथा सम्भवे शरणमेव भावनीयं नत्वन्यत्। **भक्त्यभावे** सेवायां प्रवृत्तस्यापि स्वरूपे

स्नेहो न जायते, तदर्थं भक्तैश्च स्वस्यातिक्रमे कृते सति, न हि भगवदीयानामयं स्वभावो यन्निमित्तं विना यस्य कस्याप्यतिक्रमं कुर्वन्ति। तत्करणे तु स्वदोषमेव विचार्य शरणं भावनीयं तद्दोषनिवृत्त्यर्थम्। किञ्च, अशक्ये वेति। स्वस्य कर्तुमशक्ये कार्ये शरणं भावनीयम्। अशक्य इत्युक्ते शक्यत्वे स्वयमेव कार्यम् इति न ज्ञेयं, तत्राहुः सुशक्य इति। **सर्वथा शरणं हरिः।** स्वस्य सुतरां शक्यमपि, तथापि शरणमेव भावनीयं, प्रभुशरणेनैवेदं सिद्धं नान्यथेति। प्रभोर्विघातकरणे स्वस्य सामर्थ्याभावात्स्वकृतेनाभिमानाच्छरणधर्मोपि गच्छेद् इति सर्वात्मना तदीयत्वानुसन्धानेन शरणमेव भावनीयम्। यतः प्रभुः **हरिः** सर्वदुःखहर्त्ता अशक्यादिदुःखं हरिष्यत्येवेत्यर्थः। अथवा अशक्ये भगवत्सम्बन्धिनि साधनासाध्ये, **सुशक्ये** साधनसाध्ये लौकिकेपि तदेव भावनीयं, न तु स्वप्रयत्नः कर्त्तव्यः, तत्करणे शरणधर्मो नश्येत् इति ।।११।।

अहमारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ।।१२।।

किञ्च, अहमारकृते चैव जीवस्वभाववशात्केनापि उदासीनेन भक्तेन च **सहाहमारः** कृतस्तदा तेनासुरावेशो भवत्येवेति, पश्चाद्विवेके जाते पश्चात्तापो जायते मयाऽसमीचीनं कृतम् इति, तद्दोषपरिहारार्थं शरणमेव भावनीयम्। यद्वा, प्रभुकृपाभरेण प्रौढ्या प्रभुणा सहैवाहमारः कृतस्तदापि दोषपरिहार्थं तदेव भावनीयम्। किञ्च, पोष्याणां पोषणं रक्षणं च, तत्करणेपि तदेव भावनीयं, न तु प्रयत्नः कार्यः। **पोष्यातिक्रमणे चैव।** पोष्यादीनां भार्यादीनां चकारादन्येषां बन्धुदासपर्यन्तानामप्यतिक्रमे, तथान्तेवासी स्वशिष्यस्तत्कृतेप्यतिक्रमे शरणमेव भावनीयं, न तु क्रोधादिकम्, तत्करणे आसुरावेशसम्भवात्। किञ्च, तदुपरि स्वस्य क्रोधकरणे शिष्यस्यानिष्टं भवेत् इति सुकृतिनां नायं स्वभावो यदङ्गीकृतं त्यजन्ति इति। तस्य दण्डादिकं प्रभुरेव करिष्यति इति तत्राभिमानेन च स्वधर्महानिः कार्येति भावः ।।१२।।

ननु प्राकृतानां चित्तादीनामध्यासनिवृत्तिरतिकठिना, तदभावे सर्वमेव कठिनम् इति **चेत्तत्राहुरलौकिकेति।**

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वार्थे शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ।।१३।।

मन इति उपलक्षणम्। किन्तु सर्वेषां देहेन्द्रियादीनां प्राकृतांशनिवृत्त्या यथा अलौकिकत्वं भवति तत्सिद्धौ तदनन्तरं सर्वार्थे अलौकिकसकलपदार्थसम्पत्त्यर्थमपि हरिरेव शरणं भावनीयो नान्यत्, तदेवाहुरेवम् इति। एवं प्रकारेण चित्ते ज्ञानरूपे, न तु जडे, सदा निरन्तरं भावना कार्या। अथ च वाचापि परितः **कीर्त्तयेन्निरन्तरं**

मुखेन कथयेद् इति अर्थः। क्षणमात्राकथने तदैवासुरभावप्रवेशः स्यादित्युक्तं सदेति। चित्तस्य ज्ञानरूपत्वाभावेपि कीर्त्तनमस्यावश्यकम् इति कीर्त्तनमुक्तम्। एतदेवोक्तं **नवरत्ने** ''तस्मात्सर्वात्मने''त्यत्रा'न्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा वदनमावश्यकम्'' इति। यद्वा, चकारात् कायेन सेवापि कर्त्तव्या, मनसा भावना, वाचा कीर्तनम् इति त्रिविधापि प्रपत्तिर्निरूपिता। एवं सति सर्वमेव पूर्वोक्तं शक्यं भविष्यति इति भावः ।।१३।।

नन्वेवमपि सति महत्यशक्य एवार्थे हरिः शरणं भावनीयः स्वशक्यार्थे भगवति भारः किमर्थं देय इति तदर्थं देवान्तरभजनं **चेत् कुर्यात्तत्राहुरन्यस्येति**।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ।।१४।।

अन्यस्य देवान्तरस्य भजनं **स्वतस्तदर्थगमनमपि** वर्जयेन्न कुर्यात्। चकारादन्यप्रेरणयापि तत्र न गच्छेत्। यदि न वर्जयेत्तदा शरणपदार्थो गच्छेत् इति अर्थः। इदमेवोक्तं ''न्यासादेशेषु'' इति अत्र ''मदितरभजनापेक्षणम् इति। ननु प्रभौ प्रार्थनाया अनुचितत्वात् कदाचित्पदार्थापेक्षयां देवान्तरादौ प्रार्थना मात्रं कुर्यान्न तु भजनगमनादिकं तत्र आहुः प्रार्थना इति। यथा अन्यस्य भजनगमनादिकं न **कुर्यात्तथा कार्यमात्रे महति** स्वल्पेपि वा प्रार्थना अपि **विवर्जयेत्।** विशेषेण सर्वथा न कुर्यात् कापि प्रार्थना न कार्येति बहुवचनमुक्तम्। अत्र केचन पूर्वपक्षं[१] कुर्वन्ति, प्रार्थनारहिता न केपि इति, यतो लौकिकं पारमार्थिकं वा सर्वेषां प्रार्थनीयमस्ति। परमविरक्ता अपि पारमार्थिकं प्रार्थयक्त्येव। केचन मुक्त्यादिकमपि न वाञ्छन्ति, तथापि भगवच्चरणारविन्दानुरागरूपां भक्तिं प्रार्थयक्त्येव। ते तु तादृग्भक्त्युत्पत्त्यनन्तरं किमपि न प्रार्थयन्ति इति चेत्तदात्यन्तं परमप्रेमासक्तिव्यसनवन्तो व्रजवासिनस्ते तु स्थले-स्थले प्रार्थितवन्तः। अन्ये तु मुक्त्यादिकं प्रार्थयन्ति। व्रजवासिनान्तु दावानलक्षुद्वृष्ट्यादिजनितलौकिकप्रार्थना तिष्ठति इति तद्रहितभक्तजनाभावात् प्रार्थनानिषेधः कथं क्रियते ? तत्रोच्यते। रे दुर्विदग्ध ! सन्दिग्धतयैव विदग्धम्मन्योसि, यतो यद्ब्रह्मादीनां मनसाप्याकलयितुं न शक्यं तत्स्वरूपे ये सुस्निग्धाः प्रेमासक्तिव्यसनिनः येषां तद्व्यतिरिक्तं लौकिकं पारमार्थिकं वा न किञ्चिनास्ति। तेषां लौकिकनिमित्तप्रार्थनादिकं ब्रवीषि। यदि वदसि श्रीशुकैरुक्तं, तत्रोच्यते। एतत्स्वरूपानभिज्ञ ? स्वरूपनिष्ठः सन् शृणु। येषां तदन्तराये त्रुटिर्युगायते तेषां तदन्तरायस्यासहिष्णुत्वात्

---

१ अमू पूर्वपक्षोत्तरे समुपलब्धेषु प्राचीनेषु नवसु पुस्तकेषु नस्तः। अर्वाचीनपुस्तकद्वये वर्तेते। अतः केनाप्याधुनिकेन विदुषा प्रक्षिप्ते ते स्याताम्।

स्वानिष्टे सम्पन्ने सम्भवति इति प्रार्थनं व्यसनस्वभावेन न तु स्वनिष्ठं भवति इति कुतो लौकिकनिमित्तप्रार्थनसम्भवनापि। यद्यपि तादृशानां मध्ये अनिष्टं न सम्भवति, तथापि तत्र क्रीडारसावेशेन यत्किञ्चिदपि प्रभौ स्वसाम्याधिक्यज्ञाने तन्निरोधार्थं प्रभुणैव क्रियत इति ज्ञेयम्। अन्यथा तन्निरोधो विशेषरसानुवश्च न भवेत्। एतदेव दावानलप्रस्तावे गोपेषु भगवति लौकिकभावेन स्वसाम्येनैव क्रीडासक्तेषु, गोषु च तृणलोभेन भगवन्तं विस्मृत्य वनगव्हरं प्रविष्टासु प्रपत्तिहीनैः सह भगवत्क्रीडा न भवति इति तन्निरोधार्थं प्रभुणैव वनाग्निरुत्थापितः। अन्यथा तादृशप्रभुक्रीडायां विघ्नकरणे कः समर्थः। अत एव तत्प्रपत्त्यन्तरमेव तस्य या शान्तिः कृता सापि प्रभुणैव कृता न तु साधनैः। तत्केवलं स्वीयत्वं ज्ञापनाय, इतरसम्बन्धे स्वीयत्वाभावात्। अग्रे तैरपि तथैव विज्ञापितम् तदा, ''नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हक्त्यवसीदितुं, वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणा'' इति। अस्यार्थस्तु ये केवलं त्वद्बान्धवा एव तेपि नावसीदन्ति, किं पुनः प्रपन्ना इति। स्वप्रपत्तिं ज्ञापयन्ति वयम् इति। अत्रायं गूढाभिसन्धिः। केवलं बन्धुत्वेन तत्स्वभावात् कदाचित् स्वसाम्येनापि प्रभुणा सह क्रीडादिकं सम्भवति, एवमिदं तत्प्रपन्नामनिष्यकारकं तदस्माकं पूर्वं जातम् इति स्वापराधनिवेदनं तथापि सा क्रीडास्माकं त्वां विना न भवति किन्तु, त्वया सहैव, त्वद्व्यतिरेकेण जीवनमेव न भवेद् इति विशेषणद्वयेन द्योत्यते। अतः सर्वात्मना प्रपन्नानां नो वनाग्निभयं न भवति, किं तर्हि, पूर्वोक्तापराधेन महदनिष्टे सति त्वस्वरूपान्तरायस्तु ततोप्यसह्य इति प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वापराधं प्रपत्तिं च ज्ञापयन्ति। अत एव पूर्वश्लोके सर्वथा प्रार्थनाया अनौचित्यम् इति अभिप्रायेणैव त्रातुमर्हथेत्युक्तं, न तु 'त्राही' इति। पूर्वमपि कालियसङ्गानन्तरं दावानलोद्गमे ''न शक्नुमस्त्वच्चरणं सक्त्यक्तुमकुतोभयम्'' इति एवोक्तम्। दाहस्तु सोढुं शक्यो न तु चरणवियोग इति विवरणे विवृतं, न हि व्यसनव्यतिरेकेणैवं वचनं सम्भवति इति भावः। ननु पूर्वमेवं कथमेतादृशी प्रपत्तिर्न कृता तत्राहुः 'सर्वधर्मज्ञे'ति। सर्वं धर्मं त्वमेव जानासि, वयं तु मूढा अतोस्माकं तदुपदेशाभावेन तदज्ञानात् क्रीडारसावेशेन त्वत्प्रतिपत्तिविस्मृतिर्भवति इति अर्थः। इदानीं प्रमेयबलादेव तज्ज्ञानं जातम् इति सर्वथा प्रपन्नानामस्माकं त्वत्स्वरूपान्तरायो मा भवत्विति स्वरूपाशक्तिस्वभावेनैव प्रार्थनमिव कुर्वन्तः स्वशरणगतिरेव ज्ञापितेति सर्वमनवद्यम्। नन्वेतावदपि प्रार्थितम् इति चेतत्रोच्यते। रे कुतर्काप्रतिष्ठितमते ! श्रृणु। श्रीगोकुलं तु केवलं तदेकपरं, तेषां भावोपि तादृश एवेति तादृशस्य तस्य प्रभुरपि स्वयं तदेकपर एवेत्युभयोः परस्परैकपरत्वमेव लोके ज्ञापयितुं तन्नियन्तृत्वेन प्रभुणैव तथा प्रेरितं तथा तैः प्रार्थितं, तदनन्तरं तदैव स्वयमेव साक्षात्तन्निवृत्तिं च कृतवान् इति न तत्कृतप्रार्थिनेतिनिगर्वः। प्रकृतेपि प्रपत्यभावे कृतेपि प्रार्थने तन्न करोति इति स्वस्य तादृशं प्रति तत्परत्वाभाव एव ज्ञाप्यत इति भावः। प्रार्थनादिनिषेधस्तु साधनदशायां न तु फलानुभवे। तथा च, श्रीगोकुलं तु फलरूपं फलोपयोगिसवर्यरसात्मकं भगवता स्वलीलार्थं स्वरूपेणैव साक्षात्प्रकटीकृतम्। सा लीला बहिर्लोकानुसारिणी,

अन्तस्त्वलौकिकी, बहुप्रयोजनगर्भितेति यथा – यथा तत्तद्रसात्मिकास्तास्ता लीला भवेयुः, ततः स्वमाहात्म्यगुणादिकं सर्वजनीनं च भवेत्तथा तथा भगवानेव सर्वं करोति, न तु तेषां तत्स्वरूपव्यसनवतां तदन्यत्किञ्चिदपेक्षितम्। अत एव द्विजपत्क्यनुग्रहं कर्त्तुं मनसैव तादृशानां क्षुधामुत्पादितवान्। अन्यथाऽऽकस्मिकी तादृशी दुःसहा सा कथमुत्पद्येत ? एवं सति श्रीगोकुले तत्तन्निरोधार्थं सर्वं भगवानेव करोति इति न किञ्चित्पूर्वपक्षावसरः। किञ्च, तेषां स्वरूपापेक्षापि आसक्तिव्यसनस्वभावत एव न तु कुत्रिमा। तादृशी चेत् प्राप्तौ शाम्येत। इयं तु तत्प्राप्तावपि उत्तरोत्तरं वर्द्धत इत्येतस्याः सर्वतो भिन्नैव रीतिर्नान्यमार्गीयपूर्वपक्षादिना कलुषयितुं योग्येति दिक्। किञ्च, प्रार्थनं तु यावन्मनोरथं भवति, प्रकृते मनोरथान्तमानन्दं दत्तवान् इति प्रार्थनानपेक्ष एव सर्वकर्त्तेति किमर्थं प्रार्थनं भवेत् ? यन्न दृश्यते तत्र हेतुः पूर्वमुक्त एवेति सर्वं सुस्थम्। एवं सति श्रीगोकुलस्वरूपलीलाकृतीनामज्ञानात् तत्प्रार्थनावलोकनेन तदितरस्यापि प्रार्थना कर्त्तव्येतिपक्षो निरस्तः।

प्रस्तुतम् आहुः। ननु सर्वेषां देवानां धर्माणां च त्यागेन केवलं भगवच्छरणगतावपि को वेद भगवानपेक्षितं दास्यति वा न वेति **चेत्तत्राहुरविश्वास** इति।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ।।१५।।

अस्मिन् शरणगमने **अविश्वासो न कार्यः, य सर्वथा बाधकः।** बाधकान्तरापेक्षया अयमधिकबाधक इति **सर्व**थेत्युक्तम्। यतो अविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे शरणधर्मो गच्छेद्, इदमेवोक्तम् ''अन्यसम्मेलने वा ब्रह्मास्त्रन्याय उक्त'' इति तेन विश्वास एव कर्त्तव्य इति भावः। अतः परं विश्वासे फलं भवत्यविश्वासे नेत्यत्र दृष्टान्तं निरूपयन्ति **ब्रह्मास्त्रेति।** अविश्वासे ब्रह्मास्त्रं भाव्यं भावनीयम् इति अर्थः। यथा हनुमद्विषये प्रयुक्तमपि तेषामविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे ततो निर्गतमासीत्तथात्राप्यविश्वासेन धर्मान्तरसम्बन्धे शरणमन्त्रो यास्यति शरणधर्मो न तिष्ठति इति स न कर्तव्य इतिभावः। विश्वासे चातको भाव्यः। स्वातिजलविश्वासेन चेत्स तिष्ठति तदा मेघो वर्षत्येव, स च पिबति इति भावनया विश्वास एव कर्त्तव्यो नत्वविश्वासः। शरणगतौ विश्वासे भगवान् सर्वं करिष्यति इति भावः। एवं विश्वासेन शरणस्थितौ भगवदिच्छया प्रयत्नं विना यदेव प्राप्तं भवेदनायासेन स्वल्पमपि तदेव प्राप्य, तत्रापि निर्ममः भगवदीयत्वात्तत्रापि ममतारहितः सन् प्रभुसेवां कुर्यान्न तु विशेषार्थं यत्नं कुर्यात्तदेव् आहुः प्राप्तम् इति। सेवेतेतिपदेन तत्सर्वं भगवदुपयुक्तमेव कुर्वान्न तु स्वार्थम् इति सूचितम् ।।१५।।

ननु धर्मान्तरसम्बन्धे शरणपदार्थो गच्छति इति **आवश्यकलौकिकवैदिककर्मणामपि** त्यागे कदाचिदप्रामाण्यशमा स्यान्मार्गे, तदभावार्थं **तत्करणप्रकारमाहुः** यथाकथञ्चित् इति।

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ।।१६।।
एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

यथाकथमपि मार्गे लोकानामप्रामाण्यशमा न भवेत्तथोच्चावचान्यावश्यकलौकिक वैदिकसम्बन्धीनि कार्याणि मार्गप्रामाण्यार्थं प्रभोरज्ञां ज्ञात्वा तानि कार्याणि, न तु स्वधर्मत्वेनेति। यथा ''करिष्ये वचनं तवे''ति पार्थेन भगवदाज्ञा कृता तथेत्यर्थः। एवं सति शरणपदार्थो न गच्छेत्। इति पूर्वोक्ता शमा निरस्ता। तदेवोक्तं, पुष्टिप्रवाहमर्यादायां ''लौकिकत्वं वैदिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथे''ति। अथवा, तदर्थमपि कर्माद्यकरणे न दोषः, शरणपदार्थस्यैव तावद्रूपत्वात्तदाहुः किं वेतति। बहुना प्रोक्तेन किम्, न किञ्चित्सिद्ध्यति किन्तु सर्वत्र शरणमेव भावनीयं न तु लोकसङ्ग्रहार्थमपि कर्मकरणम्। तदर्थमपि विधिरूपत्वेन कर्मकरणे शरणपदार्थाभाव इति भावः। एतदेवोक्त ''मन्यसम्मेलने वे''त्यत्र। एवं सति प्रभोराज्ञां मत्वा कर्मकरणमायातं नान्यथेत्यर्थः। नन्वेवं सर्वात्मना ज्ञानेन कदाचित्पापं सम्भवेत्तत्राहुर्हरिम् इति। स हरिः सर्वदुःखहर्ता तत्सम्भावनायां स एव पापादिकं दूरीकरिष्यति इति भावः। एतत्सर्वं 'सर्वधर्मानि'त्यस्य निरूपणे न्यासादेशेषु इति अत्र द्रष्टव्यम्। अतः परमुपसंहरन्ति एवम् इति। एवं प्रकारेणाश्रयणमाश्रयस्वरूपं प्रकृष्टेन साङ्गमुक्तम्। तावता किम् इति चेत्तत्राहुः सर्वेषाम् इति। सर्वेषां जीवानामाश्रमाणां वर्णानां सर्वदा क्रियमाणं सत् हितं हितकारि, साधनं विनाप्यैहिकपारलौकिकसम्पत्तिसाधकमित्यतः परं किमवशिष्यते।

ननु सर्वयुगेषु साधनैरेव फलं भवतीत्यधुना तानि विहाय केवलं शरणमेव कथमुच्यते, तत्र **आहुः कलाविति।**

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।१७।।

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितो विवेकधैर्याश्रयग्रन्थः सम्पूर्णः ।

अन्ययुगेषु धर्मस्यैव प्राधान्याद्विहितभक्त्यादीनां साधनसाध्यत्वात् तैरेव विहितभक्त्युपासनाकर्मादीनां फलं भवति। कलिस्तु पापप्रधान इति साधनानामसम्भवाद्विहितभक्त्यादिमार्गा दुःसाध्याः, प्रत्युत यत् किञ्चित्करणेपि पाषण्डप्रवेशेन पापमपि जायत इति सर्वथा दुःसाध्याः, यतो साधनसाध्या अपि भक्त्यादिमार्गाः कलौ दुःसाध्यास्तत्र कृतादियुगेष्वपि यो भक्तिमार्गः साधनासाध्यः केवलभगवदनुग्रहैकलभ्यस्तस्य कलौ सुतरामेव साध्यनासाध्यत्वेन दुःसाध्यत्वम् इति सर्वात्मना शरणगतौ भगवान् तादृशे भक्तिमार्गेप्यनुग्रहं करिष्यति इति, सर्वात्मना शरणमेव भावनीयं, नान्यत्कर्त्तव्यम् इति स्वसिद्धान्तज्ञापनायोक्तं **मे मतिरिति। मे**

मतिरित्येव। तेन स्वमार्गीयाणामिदमेव कर्तव्यं नान्यद् इति भावः।

श्रीमदाचार्यचरणशरणस्मरणेन मे ।
हृद्यायाता प्रणालीयं ग्रन्थस्याध्वानुसारिणी ।।१।।
भक्तिमार्गे स्वकीयस्य दाढ्यर्थं सर्वथा इमे ।
अपेक्षिता विवेकाद्यास्त्वेतदर्थं तदाश्रयः ।।२।।
श्रीमदाचार्यचरणैरिति ते वर्णिताः स्फुटम् ।
अतस्त एव चरणास्तदर्थं शरणं मम ।।३।।

इति श्रीघनश्यामात्मजश्रीगोपीशचरणविरचिता
विवेकधैर्याश्रयविवृतिः
सम्पूर्णा।

श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।
श्रीभागवतप्रतिपादमणिवरभावांशुभूषितश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीगोविन्दरायात्मजश्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवृतिः ।

यत्पादाब्जाश्रयादासन् सर्वे पूर्णमनोरथाः ।
तमेव गोकुलाधीशं सर्वसिद्ध्यै समाश्रये ।।१।।

अथ सकलकर्मादिमार्गाधिकारेषु सत्सु भक्तिमार्गानुसारेण भगवदाश्रय एव सर्वपुरुषार्थसाधकस्तदाश्रये च विवेकधैर्ये हेतू। तथाहि। विवेके सति सर्वोत्तमत्वं भगवति ज्ञात्वा तदाश्रयं करोति जीवः। धैर्ये च सति दाढ्यं भवति, तेन विवेकधैर्याभ्यामविरतं भगवदाश्रयो भवति तत्र स्वीयानां भक्तिसिद्ध्यर्थं विवेकधैर्याश्रयान् आचार्या निरूपयन्ति विवेकधैर्ये इति।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।
विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ।।१।।

विवेकधैर्ये निरन्तरं रक्षणीये। आश्रयो भगवदाश्रयः सोपि तथा निरन्तरं रक्षणीय इति अर्थः। एतेषां रक्षणञ्चैतदनुसन्धानपूर्वकमेव तदनुकूलकृतिकरणम्। मुख्यो भगवदाश्रयः। तदङ्गे च विवेकधैर्ये इति ज्ञापनाय विवेकधैर्ययोरेकपदेन निरूपणम्। आश्रयनिरूपणं चान्येन। तत्र विवेकस्य प्रथमोद्दिष्टत्वात्प्रथमं विवेकं लक्षयन्ति विवेकस्तु इति। विवेकस्त्वयमेव, नत्वन्य इत्यन्ययोगव्यवच्छेदार्थस्तुशब्दः। विवेकस्वरूपमाहुर्हरिरिति। हरिः सर्वदुःखहर्ता, तेन यत्करिष्यति तद्भव्यमेव करिष्यति इति भावः। तदपि कियत्कार्यं कृत्वा निवर्त्तिष्यत इति नास्ति इति आहुः सर्वम् इति। निजेच्छातः स्वेच्छातः। तथा च न प्रार्थनीय इति अर्थः। अत एव प्रल्हादवचनं, ''नान्यथा तेऽखिलगुरोर्घटते करुणात्मनः''। ''यस्तु आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्'', अत एव नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीयाः, येन्योन्यतो भागवतप्रधानाः सभाजयन्ते मम पौरुषाणि'' इत्यादिवाक्यानि ।।१।।

ननु सेवकै: प्रभु: प्रार्थनीय एवेति चेत्तत्र आहु: **प्रार्थिते वेति**।

प्रार्थितेपि तत: किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ।।२।।

प्रार्थितेपि तत: प्रार्थनात् किं स्यान्न किमपि इति अर्थ:। तत्र हेतु: **स्वाम्यभिप्रायेति। यत:** प्रभोरभिप्राय: पूर्वं ज्ञातुमशक्य:, प्रभुश्च स्वाभिप्रेतमेव करिष्यति। लौकिका अपीश्वरा: स्वतन्त्रा भवन्ति किं पुन: सकललोकमहेश्वर:। ननु निजेछातस्तदा करिष्यति यदि सामग्री सङ्घटिता स्यात्। नह्यसम्भृतसामग्रीक: किमपि कर्तुं शक्नोति इति चेत्तत्र आहु:। सर्वत्रेति। **तस्य** भगवत: **सर्वत्र** सर्वस्मिन्नेवायोग्येपि[१] देशे सर्वयोनिषु च सर्वं वस्तु सिद्धमेवास्ति, अप्रतिहतेच्छत्वात्। अत एव किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने'' इति आदि। ननु सम्भृतसामग्रीकोपि यदि स्वयमसमर्थ: स्यात् तदा कथं कुर्यात्तत्र आहु: सर्वेति। ''य: सर्वज्ञ: सर्वशक्तिरि''तिश्रुते:। सर्वप्रकारकं सामर्थ्यं विद्यत इति साधनन्यूनत्वे साधनमपि सम्पाद्य फलं दातुं समर्थ:। साधनं विनापि फलं दातुं समर्थ इति अर्थ:। अत एव व्रजवासिभ्यो नि:साधनेभ्य एव फलं दत्तवान्। ''तेनाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमा:। अव्रतातप्ततपस: सत्सङ्गान्मामुपागता:। केवलेन हि भावेन गोप्यो गाव: खगा मृगा:। येन्ये मूढधियो नागा: सिद्धा मामीयुञ्जसे''त्यादि वाक्यात्। अत एव निर्द्वारक एवकार:। चकारादिच्छापि। नहींच्छां विना कोपि किमपि करोति ।।२।।

भगवद्धर्मान् विविच्य जीवधर्मान् विवेचयक्त्यभिमानश्चेति।

अभिमानश्च सक्त्याज्य: स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्त:करणगोचर: ।।३।।

सेवकै: सर्वदा स्वाम्यधीनत्वमेव मनसि भावनीयं दासधर्मत्वात्। ल्यब्लापेपञ्चमी। तथा च स्वाम्यधीनत्वभावनं प्राप्य अभिमान: सर्वथा सम्यक् त्याज्य:। सवासनस्त्याज्य इति उपसर्ग:। अथवा लौकिकस्त्याज्यो नत्वलौकिक इति विवेकार्थमुपसर्ग:। चकारादन्येपि कामक्रोधादय:। ननु भगवदीयानां लौकिकं वैदिकं वा यदि **विशेषत:** कार्यं कर्तव्यं स्यात् तदा केन प्रकारेण कर्तव्यम् इति **चेत्तत्राहुर्विशेषतश्चेद् इति।** यदि विशेषतोभगवदाज्ञा स्यात् तदा विशेष: प्रकार: सर्वोपि कर्तव्य:। न तु

१. उक्तानित्यस्य अध्याहार: २ 'अनार्येपि' इति पाठ: ग. घ.

भगवदाज्ञां विना। साप्यन्त:करणपूर्विका न तु क्रोधेन परिहासेन वा, **तदाहुरन्त:करणगोचर** इति। अजहल्लिङ्गमिदं पदम्। तेन लौकिक आवश्यके व्यवहारे नाज्ञापेक्षा, वैदिकेपि नित्यकर्मणि वेदरूपसामान्याज्ञयैव तत्करणम्। तस्माद्भगवदीयानां लौकिके वैदिके वा विशेषकार्ये कर्तव्ये भगवदाज्ञापेक्षा।

तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।

आपद्गात्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।।४।।

अत एव राजसूयोद्यतेन धर्मराजेन विज्ञापितं ''यक्षे विभूतीर्भवत'' इति। लौकिकेपि यावदावश्यकं तावदेव कर्त्तव्यमधिकन्तु भगवदाज्ञात:। **गति**र्गमनम्, तेन विशेषगतिस्तीर्थादियात्रा। **आदि**पदादन्यदप्यागन्तुकम्। तथा च यत्किञ्चिदप्यागन्तुकं कार्यं, तत्र भगवदाज्ञापेक्षा। उत्पत्त्यर्थस्य[*] भूधातोर्ण्ये, तस्य भावयत्युत्पादयति इति अर्थ:। तथा च भाव्यते क्रियत इति भाव्यं कर्त्तव्यम् इति अर्थ:। ननु पुत्रादीनामुपनयनविवाहादावाज्ञामपेक्षेत न वेत्याशङ्क्य नेत्याहुर्भिन्नन्तु दैहिकात् इति दैहिकाद्भिन्नं **विशेषकार्यमाज्ञाय कर्तव्यं नतु दैहिकम् इति अर्थ:।** तु शब्द: सन्देहवारक:, तेन पुत्रादीनामुपनयनविवाहादिकरणे नाज्ञापेक्षा किन्तु निर्वाहमात्रं कर्त्तव्यं। न त्वधिको **वृथा व्ययादि:** कर्त्तव्य:। ननु विपदादौ कथं व्यवहर्त्तव्यम् इति चेत् तत्र आहुः आपद्गत्याद् इति। आपद्गतिरापत्प्राप्तिस्तत्र यानि कार्याणि तेषु हठो न कार्य: किन्तु यथा सौकर्यमेव विधेयम्। आदिपदाद्भगवदाज्ञा, आचार्याज्ञा, भगवदीयानामाग्रह:। तेष्वपि स्वकीयो हठो न **कार्य:।** ननु विपदादौ हठेऽपि का क्षति:, भगवतैव तद्धठनिर्वाहात्। न हि भगवान्कदाचिदपि स्वकीयानुपेक्षते, ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति भगवत्प्रतिज्ञानाद् इति चेत्, सत्यम्। परन्त्वन्यथैव कार्यसम्भवे प्रभौ समोचदानस्यानुचितत्वात्। हठविषयस्य भगवदभिप्रेतत्वे निर्वाहाभावाच्च। ननूक्तमेव मया भगवान् कदाचिदपि प्रपन्नं नोपक्षत इति तत्कथमनिर्वाह इति चेत्, सत्यम्। यदि सर्वथा प्रपन्न: स्यात् परन्तु भगवदनभिप्रेतस्य करणे प्रपत्तेरेव न्यूनत्वात्। न हि **सर्वथा प्रपन्नो य:** स भगवदभिप्रेतं कदाचिदपि करोति। तेन सर्वथा प्रपत्त्यभावे भागवतोपि नावश्यको **हठनिर्वाह:**। नन्वनभिप्रेतत्वं तेन कथं ज्ञातव्यमज्ञाते तु न तस्य दोष इति चेत्, सत्यम्। तथापि सन्देहेपि हठस्यानुचितत्वादित्यलं विस्तरेण। **एतत्सर्वमभिसन्धायाहु:** सर्वथेति। सर्वथा सर्वै: प्रकारै:। तथा च केनापि प्रकारेण हठो **न कर्त्तव्य** इति अर्थ: ।।४।।

एवं भगवत्कृत्येषु विचार्य लौकिकेषु **व्यवस्थामाहुरनाग्रहश्चेति।**

अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।

विवेकोयं समाख्यातो धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।।५।।

* हेतुमति च ३-१-२६

सर्वत्र लौकिके व्यवहारो अनाग्रहेण कर्त्तव्य:। किन्त्वौदासीन्येन व्यवहर्त्तव्यं न केवलमौदासिन्यमेव[१] कर्त्तव्यं लौकिके किन्तु भक्तिविरोधिलौकिकांशस्य त्यागोपि कर्त्तव्य इति चकारार्थ:। किञ्च, धर्माणामधर्माणां च पर्यवसानविचारेण तदनुसारेण व्यवहर्त्तव्यम् इति आहु र्धर्माधर्माग्रदर्शनम् इति। एके स्मार्तधर्मा अपरे श्रौतधर्मा अन्ये भगवद्धर्मा:, ते सर्वेपि सम्पदापत्तिभेदेन द्विविधा: उत्तरोत्तरबलिष्ठा:। तत्र स्वाधिकारो विचार्य:। यदि भगवदाज्ञा भवति, तदा सापि विचार्या, भगवदिच्छा च विचार्या, आचार्याज्ञा च विचार्या। तथा च धर्माधर्माणां बलाबलमेत्यसर्वं च विचार्य यथा क्रियमाणे पर्यवसाने उत्तमं भवति तथा करणीयम्। तेनैवं पदयोजनिका। धर्माणामधर्माणाञ्च यद्ग्रं पर्यवसानं तस्य दर्शनं विचार: कर्त्तव्य इति शेष:। उपसंहरन्ति, विवेकोयम् इति। अयमेव विवेको नत्वन्य इति ज्ञापनायम् इति। सविस्तरमवान्तरभेदनिरूपणपूर्वकम् इति सम् इति। आख्यात: कथित:। उद्देशानुसारेण धैर्यं लक्षयन्ति धैर्यम् इति। विवेकानन्तरं धैर्ये विलम्बो न कार्य इति ज्ञापनाय अव्यधानेन पूर्वोपसंहारोत्तरोपक्रमयोर्निरूपणम्। तुशब्द: प्रकारभेदज्ञापक: विशेषेणविस्तरप्रकारेण निरूप्यते ।।५।।

धैर्यस्वरूपमाहुस्त्रिदु:खेति।

त्रिदु:खसहनं धैर्यमामृते: सर्वत: सदा ।

तक्रवद्देहवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ।।६।।

त्रयाणाम् आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकानां दु:खानां सहनम्, लौकिकायास आधिभौतिको, वैदिक आध्यात्मिको, भगवदर्थ आदिदैविक:। मरणपर्यन्तं सहनम् इति आहुरामृतेरिति। तत्रापि मध्ये-मध्ये विच्छिद्य सहनं न साधकम् इति आहु: सदेति निरन्तरम् इति अर्थ:। सर्वस्मात्सहनं न तु तत्र हीनमध्यमत्वादिकं भावनीयम् इति अर्थ:। अध्यासनिवृत्तौ धैर्यं सुकरम् इति देहाद्यध्यासनिवृत्तिप्रकारम् आहुस्तक्रवत् इति। देहवत् इति, देहवता सङ्गति तक्रवद्भावना कार्या। तथाहि, अत्रैवमाख्यायिका। काचिद्राज्ञी केनचित्पामरेण सम्बद्धचित्ता सती तेन सह समेतं कृतवती राजानमहं मारयिष्यामि, तव भार्या भविष्याम् इति। तत: कस्मिंश्चिद्वने तं स्थापयित्वा स्वभवनमागत्य रात्रौ राजानं हत्वा तद्वनं प्रतिष्ठा। तत्र च पतित्वेन कल्पितं तं पुरुषं सर्पदष्टं दृष्टवती। तदन्तरमितस्ततो भ्रष्टा सती कुत्रचिद्देशे गणिका बभूव। तत्र चाज्ञानात् स्वपुत्रेण सम्भुक्ता। तदन्तरं च प्रसङ्गात् ज्ञातवती ममायं पुत्र इति। तदन्तरमत्यन्तग्लानिप्राप्त्या शरीरं चितां प्रविष्टा। तत्रापि, वह्नितापमसहमाना ततो निर्गत्य कुत्रचिद्देशे कस्यचिद्गोपस्य भार्या बभूव।

१ न्येनैवेति पाठ: ग. घ.

तत्र च, गोरसविक्रयेण जीविकां चकार। सा चैकदा स्वसमानाभिर्बहुभि: सह तक्रविक्रयाय निश्चक्राम। मध्येमार्गं केनच्चित्प्रत्यूहेन पतितानि सर्वासां भाण्डानि भग्नान्यन्वभवन्। तदान्याश्चुक्षुभु:, सा तु जहास। तदा हसन्तीं तां सर्वा: पप्रच्छु:, कथं त्वं न क्षुभ्यसि किम् इति च हससीति ? तदा सा स्ववृत्तान्तकथनेन पद्यनैकेनोत्तरमदात्त। तथाहि,

हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं देशान्तरे विधिवशाद्गणिकास्मि जाता।

पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रम्'' इति।

तदाहुस्तक्रवद् इति। सप्तम्यर्थे वति तेन यथा तस्यास्तक्रे उदासीनभावना नत्वभिमान: तथा सङ्घाते भावनीयम् इति अर्थ:। इयमाख्यायिकानान्यत्र प्रसिद्धेति सुप्रसिद्धपौराणं दृष्टान्तम् आहुर्जडवत् इति। तृतीये जन्मनि भरतो जडस्तस्य यथा सङ्घाते नाभिमानस्तथा भावनीयम् इति अर्थ:। यथा जडः स्वबन्धुषु सङ्गं त्यक्त्वानुदासीनेपि रहुगणे च सङ्गं कृतवान्, तथा श्रीमत्प्रभुचरणारविन्दानुपयुक्तेषु बन्धुष्वपि सङ्गो न कार्य:, श्रीमत्प्रभुचरणारविन्दानुरक्तेषूदासीनेष्वपि सङ्ग: कार्य इति जडदृष्टान्तेन सूच्यते। अत एव कर्दमं प्रति विज्ञापयक्त्या देवहूत्या सङ्गो य: ''संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितो धिया। स एव साधुषु कृतो नि:सङ्गत्वाय: कल्पते'' (भा. ३।२३।५५) इति उक्तम्। अत एव कपिलदेवनाप्युक्तम्, ''प्रसङ्गमजरं पाशमात्मन: कवयो विदु:। स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्'' इति उक्तम् (भा. ३।२५।२०)। अत एव वृत्रेणापि प्रार्थितम्, ''ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्'' इति (भा. ६।११।२७)। यथा च प्रयत्नमकुर्वाणेपि जडे भद्रकालीसम्बन्धी विघ्नो न जातस्तथा सर्वेष्वेव भगवदीयेषु देवान्तरकृतो विघ्नो न भवति इत्यपि सूच्यते। अत एव गर्भस्तुतौ ''त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप मूर्द्धसु प्रभो'' इति देववचनं गीयते। किं बहुना, कालोपि न प्रभुत्वं कर्तुमिष्टे। अत एव कपिलदेवेनोक्तम्, ''न कर्हिचिन्मत्परा: शान्तरूपे नक्ष्यन्ति नो मे निमिषो लेढि हेतिरिति'' (भा. ३।२५।३८)। अनिमेषो हेति: काल:। अत एव यमेनाप्युक्तम् ''ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा ये साधव: समदृशो भगवत्प्रपन्ना:। तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्नैषां वयं न च वय: प्रभवाम दण्ड'' इति (भा. ६।३।२७) वय: काल:। अत एव द्वितीयस्कन्धे द्वितीयाध्याये। न यत्र कालेति। (भा. २।२।१७) एवं मध्ये सुप्रसिद्धं पौराणं दृष्टान्तमुक्त्वा पूर्वाख्यायिकाया: सत्यत्त्वज्ञापनाय पुनस्तत्सम्बन्धिनमेव दृष्टान्तमाहुर्गोपभार्यवद् इति। गोपेन भ्रियते पोष्यत इति गोपभार्य:, तस्या देहस्तत्र यथा तस्या उदासीनबुद्धिस्तथा देहादौ भाव्यम् इति अर्थ:। ननु तक्रविषयकशोकाभावकथनात्तक्रविषयकमौदासीन्यं तस्या आसीद् इति उक्तं परन्तु देहादौ तस्या उदासीनभाव:

१ 'अत्पन्तं' इति पाठ: ।

कथं निर्धारीति चेत्, सत्यम्, यदि देहादावासक्तिस्तस्याः स्यात्तदा तक्रविक्रयेण जीवक्त्यास्तस्या देहादिपोषके तक्रे कथमौदासीन्यं स्यात्? तेन ज्ञायते तस्या उदासीनबुद्धिरेव देहादौ। ननु प्रतिकाराशक्त्या कृतोपि शोको व्यर्थ इति शोकं न कृतवती, नत्वनासक्तिर्देहादाविति चेन्मैवम्। प्रतीकाराशक्तिं ज्ञात्वा प्रतीकारोद्यमं मा कुर्यात्, शोकाभावस्तु दुर्निवारः। यो देहो राज्यदशायामनेकदेहपोषकः सर्वसम्पत्तिसम्पन्नः सर्वसुखसन्दोहनिधानमासीत्स एव देहः पश्चात्पामरेण गोपेन पोष्यः, सर्वसम्पत्तिशून्यः, सर्वदुःखनिधानमजनि इति ज्ञापनाय गोपभार्यत्वेन निर्देशः। तथा च यदर्थं धैर्यं त्वक्तव्यं ताः सम्पदश्चञ्चला इव चञ्चला इति। किम् इति सर्वदा स्थायिसकलपुरुषार्थप्रतिक्षणपोषकं प्रभुपादपद्मं (कथं) परित्यक्तव्यम् इति भावः। तथा च देहवता तक्रवज्जडवङ्गोपभार्यवत् स्वदेहादौ भाव्यम् इति अर्थः पर्यवसन्नः। देहवता भाव्यम् इति तृतीयासमासः। देहावता देहाभिमानवता तेन यत्किञ्चिदभिमानोपि संरक्ष्यः। तथा च भगवत्सेवादिविषयकः सर्वथा संरक्ष्यो, लौकिकविषयकस्त्याज्य इति भावः, यद्वा, देहवतेति मनुष्याधिकारकत्वनियमो व्यावर्तितः। तेन पश्वादिशरीरेप्येवं भाव्यम् इति भावः। अत एव भरतस्य हरिणजन्मन्यप्यध्यासनिवृत्तिः। तदुक्तम्, तस्मिन्नपि कालं समीक्ष्यमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कतृणपर्णवीरूधावर्त्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकं क्लिन्नमुत्ससर्जेति तस्मिन्पुलहाश्रमे। अथवा। त्रिदुःखसहनम् इति। भक्तिविरोधिदुःखनिवृत्त्युपायाकरणेन त्रयाणां कायिकवाचिकमानसिकानां दुःखानां देहपातपर्यन्तं सर्वेभ्यः सहनं धैर्यम् इति अर्थः। स्वशरीरस्वीयवस्तुनोरासक्त्याधिक्ये दुःखाधिक्यसम्भवाद्धैर्यमशक्यं स्याद् इति तादृश्यासक्तिर्न कार्येति दृष्टान्तैराहुस्तक्रवत् इत्यादि। जडेन तुल्यं जडवत्, तृतीयासमर्थाद्वतिः। देह इव देहवत्, सप्तमीसमर्थाद्वतिः। जडभरतेन स्वदेह इव देहेष्वासक्तिः कार्ये इति अर्थः। गोपभार्यवद्गोपभार्यया तुल्यं गृहे स्थिताया स्त्रिया भरणीयत्वात्। भार्यात्वाभावाद्वस्तुत्वेन नपुंसकतानिर्देशः। तक्रवत् इति सप्तमीसमर्थाद्वतिः। गोपभार्यया स्वतक्र इव स्ववस्तुष्वासक्तिः कार्ये इति अर्थः। तेन स्वशरीरवस्तुनोर्निर्वाहार्थमासक्तिं कृत्वा जडभरतेनेव भगवत्परतया स्थेयम् इति भावः।

ननु यदुक्तं त्रिदुःखसहनं धैर्यम् इति तत्र यदि कदाचित् स्वत एव दुःखप्रतीकारः सिद्धस्तदापि किं तं प्रतीकारं निवार्य दुःखं सोढव्यमेवाहोस्वित्प्रतीकारेण तद् दुःखमपोह्यम्? इति सन्देहे निर्णयम् आहुः **प्रतीकार** इति।

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत्।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ।।७।।

यदृच्छातः, अनायासेन चेद् यदि प्रतीकारः दुःखप्रतीकारः सिद्धः सम्पन्नः स्यात्तदा आग्रही मयेदं दुःखं सोढव्यमेवेत्याग्रहवान्न भवेत्। इदमत्राकुतम्, अत्र हि

भगवदाश्रयसिद्ध्यर्थं विवेकधैर्यं उच्येते। तेन त्रिदुःखसहनरूपं यद् धैर्यं निरूपितं तदपि यदि भगवदाश्रयनिमित्तं तदा कर्त्तव्यं नोचेत्प्रयोजनं विना किम् इति तत्कर्त्तव्यं? ''न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि प्रवर्त्तत'' इति न्यायात्। अत एव केनचिदुक्तम् ''अनिषिद्धसुखत्यागी पशुरेव न संशय'' इति। न केवलं प्रयोजनाभावमात्रं, प्रत्युत विपरितत्वमासुरत्वञ्च। अत एव गीतासु भगवताप्युक्तम्, ''अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः। दम्भाहमारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः। कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। माञ्चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्'' इति। यदृछात इति, स्वयं तदर्थमायासो न कर्त्तव्य इति सूचितम्। तदर्थमायासकरणे स्वसर्वस्वप्रभुचरणारविन्दविस्मरणं यतः। ''भूमिनिन्दाप्रशंसा नित्ययोगेतिशायने। संसर्गेस्त्विति[१] विवक्षायां भवन्ति मातुबादय'' इति वाक्यान्निन्दायामिनि प्रत्ययोत्र। तथा चासदाग्रहवान्न भवेद् इति अर्थः। तेनायमर्थः पर्यवसन्नः। यदि किञ्चिदपि भगवतो भगवदीयानां वा कार्यं सिद्ध्येत्, तदा स्वतः सिद्धेपि प्रतीकारे दुःखं सोढव्यमेव। तत्राग्रहस्यासत्त्वाभावात्। न हि येन भगवतो भक्तानां वा सेवा सिद्ध्यति, तस्य कदाचिदप्यसत्त्वं भवति। यतो जन्मनो लाभः स एव यद्भगवतो भक्तानां वा कार्यसाधनम्। इदमपि स्नेहस्यापरिपाकदशायामुच्यते। परिपाकदशायां यथा – यथा स्वयं क्लेशं सोढ्वा भगवतो भक्तानां वा साधयति, तथा – तथा परमसन्तोष एवेति दुःखमेव नास्ति किं सोढव्यम्? अभिमानस्यैव संसारत्वादपमानजनितदुःखसहनमतिकठिनम्। तत्रापि स्वापेक्षाया हीनैः कृतोपमानसुतरां सोढुमशक्यः। तत्रापि स्वस्वाधीनैः कृतस्ततः सुतरां सोढुव्यम्? अभिमानस्यैव संसारत्वादपमानजनितदुःखसहनमतिकठिनम्। तत्रापि स्वापेक्षाया हीनैः कृतोपमानसुतरां सोढुमशक्यः। तत्रापि स्वस्वाधीनैः कृतस्ततः सुतरां सोढुमशक्यस्तेन तत्सहने कदाचित्कस्यचिच्छिथिलता स्याद् इति **'त्रिदुःखसहनम्'** इति सङ्क्षेपेणोक्तमपि पुनर्विशेषत आहुर्भार्यादीनाम् इति। भार्या आदिर्येषाम् इति। सर्व एव बान्धवास्तेषामाक्रमं तत्कृततिरस्कारं सहेत्। आसमन्तात्क्रमः पादविक्षेपः, शिरसि पादप्रहारपर्यन्तमपि तिरस्कारं सहेद् इति अर्थः। पुत्रा अपि कदाचिद्विभागादिना स्वतन्त्रा भवन्ति। भार्या तु केवलं भर्त्रधीनैवेति तत्कृतस्तिरस्कारो भर्तुरतिदुःखसहस्तादृशोपि सोढव्य इति ज्ञापनाय प्रथमं भार्याया निर्देशः। यथैतादृशदुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यस्तत्रान्यसहने किं वक्तव्यम् इति कैमुतिकन्यायोप्यनेन सूचितः। तथा च प्रभुचरणनलिनयुगलसमाश्रयणाय किं न कर्तव्यम् इति भावोप्यसूचि। यतोत्राश्रयनिरूपणायैव विवेकधैर्ये निरूप्येते। बन्धुष्वपि एकस्य द्वयोर्वा सोढव्यो नास्ति किन्तु सर्वेषाम् इति ज्ञापनाय बहुवचनम्। ननु 'षह'मर्षणे, इति धातोरनुदात्तेत्वात्सहेद् इति परस्मैपदं कथं चकास्ति इति चेद्, इत्थम्।

---

१ ''सम्बन्धे'' इति गे घे ।

''चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि'' इत्यत्रेकारसत्वेपि ङकारग्रहणं यत्, तत् ङितामेवात्मानेपदं नित्यमनुदात्तेतान्तु अनित्यम् इति ज्ञापयति। तेन अनुदात्तेतां कदाचित् परस्मैपदमपि भवति, अत एव पण्डितप्रवणेन बोपदेवेन कविकल्पद्रुमधातुपाठे अयम् उभयपद्युक्तः। अत एव महाकविना शाकल्लमल्लेनाप्यधिमत्समन्तुमसहत्रुपयन्ताविफलो भवेति मघवानमशासीद् इति प्रयुक्तम्। अत एवानुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः इतिप्रयोगः। ननु उदासीनाश्चेत् केपि तिरस्कुर्युस्तदा किं करणीयम् इति आशङ्क्य, तत्रापि यदि तदसहने आश्रये कश्चनान्तरायः स्यात्, तदा सोढव्यम् इति आहुस्तथान्येषाम् इति। यथातिदुःसहोपि बन्धूनां तिरस्कारः सोढव्यस्तथोदासीनानामपि तिरस्कारः सोढव्यः इति अर्थः। ननु नीचश्चेत् कोपि तिरस्कुर्यात् तदा किं कार्यम् इति आशङ्क्य पूर्ववदेवाहुरसत इति। असतो जात्यादिहीनस्येत्यर्थः। यदि भगवत्सेवादिकं निर्वहति तदा तदर्थं म्लेच्छादीनामपि तिरस्कारः सोढव्यः इति अर्थः। न केवलं तेषां तिरस्कारमात्रं सोढव्यं, प्रत्युत यदि तैः प्रभुसेवादिकं निर्विघ्नं निर्वहति तदा बान्धवा उदासीना म्लेच्छादयश्च त्रयोपि अनुसर्तव्या इति चकारार्थः।

यथा भगवदर्थमतिदुःसहोपि तिरस्कारः सोढव्यः तथा प्रभुचरणसमाश्रयणाय प्रतिबन्धरूपः सर्वोपि सुखभोगः सुदुस्त्यजोपि त्यक्तव्य इति आहुः **स्वयम् इति।**

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ।।८।।

'स्वयं'पदात् श्रीप्रभुप्रसादत्वेन प्राप्तस्य विहितत्वेन प्राप्तस्य च मिष्टान्नादेः परित्यागाभावः सूचितः। अत एव 'त्वयोपभुक्ते'त्यादि। इन्द्रियकार्याणि सर्वेन्द्रियविषयभोगात् कायेन वाचा मनसा च स्वयं प्रयत्नेन त्यजेत् इति अर्थः। अयमभिसन्धिः, ''तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेद्'' इति सप्तमे नारदवचनान्निरन्तरं भगवद्भावनादिरेव परमपुरुषार्थः। अत एव ''तस्माद्भारत सर्वात्मे''त्यादि। ''तस्मात्सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशव। म्रियमाणोव्यवहितस्ततोयाति पराङ्गतिम्''। अतस्तत्साधक एव परमलाभकरस्तद्विघातक एव परमहानिकरः। यतश्चिन्तनादिविच्छेदक एव परमहानिकरः। अत एव सा हानिः ''कालोस्ति यत आयुर्हरति वै पुंसाम् इति आदि। भोगश्च स्मरणादिविघातकः। अतः परमहानिकरत्वेन भोगास्त्यक्तव्या इति अर्थः।

नन्विदमसङ्गतम्, तथाहि अन्येषां यथा तथास्तु, भक्तानान्तु विषया न बाधकाः। यतः सत्स्वपि विषयभोगेषु भक्तिरेव सर्वसाधिकास्ति। अत एव ''बाध्यमानोपि मद्भक्तः'' ''अपि चेत्सुदुराचार'' इत्यादि। अत एव प्रियव्रतप्रह्लादाम्बरीषादीनामपि राज्यादिकरणम्। न हि स्मरणादिविघातकेषु ते प्रवर्त्तन्ते। अतः कथं भगवद्भावविघातका विषया इति चेत्? स्वानुभवं जानन्नप्येवं वदन् निरपत्रयोसि। न हि त्वया भोगं भुञ्जानो भगवच्चरणारविन्दाभिनिविष्टचितः कश्चिद्दृष्टचरः श्रुतो

वा। ननु श्रुता एव बहवः प्रियव्रतप्रभृतय इति चेत्? रे मुर्ख? तेषु भोगस्य नाममात्रम्, न हि ते विषयेष्वासक्तचित्ताः किन्तु केवलं प्रभुचरणपरायणा एव। अतः प्रभोराज्ञया ते राज्यादिकं कृतवन्तो न तु भोगं भुञ्जानाः। नन्वनुभवेन कथं निर्द्धारः प्रमाणसम्मतिं विनानुभवत्वप्रमात्वयोः सन्देहाद् इति चेत्? वत्स? विमलामतिस्ते, यतः प्रमाणसम्मतिमपि श्रोतुकामोसि। अवहितः श्रृणु। प्रथमं तावद्गीतासु श्रीमद्यदुकुलजलधिसमुद्भूतश्रीकृष्णचन्द्रोक्तमवधारय। तथाहि, ''विषयाक्ध्यायतः(?) पुंसः सङ्गेस्तेषूपजायते। सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते। क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'' (२.६२)। सङ्ग आसक्तिः, कामोभिलाषः, क्रोधः, कोपः, सम्मोहो विवेकाभावः, स्मृतिविभ्रमो भगवच्चरणविस्मरणम्, बुद्धिनाशः सुबुद्धिनाशः, प्रणाशः स्वरूपलाभाभावः। मुक्तौ लीलाप्रवेशे वा स्वरूपलाभस्तदभावः संसारः। अत एव कपिलदेवैरप्युक्तम्, ''चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्। गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तय'' इति। (भा. ३।२५।१५) गुणेषु रूपरसादिषु पञ्चस्वपि विषयेषु इति यावत्। अत एव ''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोरि''त्यपि। अत एव विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशस्तु दूरत'' इत्यपि। भोगेष्वपि स्त्रीसम्भोगः सुतरां बाधकः, तत्क्षणमेव बुद्धिविपर्यासकरत्वात्। अत एव कपिलदेवैरपि ''न तथास्य भवेन्मोह'' इति आद्युक्तम्। ''भोगान्सक्त्यज्य यः सर्वान्न जातु काम'' इति आदि ययातिवचनम्। ''महत्सेवाद्वारम् आहु'' रित्यादि ऋषभवाक्यम्। ननु तर्हि ''बाध्यमानोपि मद्भक्त'' (भा. ११।१४।१८) इति आदिना विषयाणामबाधकत्वं कथमुच्यत इति चेद्? अत्र वदामः। केवलं भजनं कुर्वाणः कदाचिदिन्द्रियनिग्रहं कर्तुमशक्नुवन्विषयैः स्ववशः क्रियते, तस्याशक्येर्थे भगवान् क्षमत इति। न तस्य तत्पापभोगो भवति। अत एव कृपयाहं तथा सम्पादयाम् इति ज्ञापयितुं स्वपक्षपातज्ञापकं 'मद्भक्त' इति पदमुक्तवान्। अत एवा 'जितेन्द्रिय' इति तस्या असक्तिं (दृष्ट्वा) दयायां हेतुमुक्तवान्। अजितेन्द्रियः इन्द्रियजयं कर्त्तुमशक्तः। ईश्वरः केनापि न नियन्तुं शक्य इति कदाचिदेतादृशेपि न क्षमां करोति, तदा तेन पापेन सोभिभूयत एवेतिप्राय इति उक्तम्। प्रायो बाहुल्येन नतु सर्वथा नियमः। भक्तिरपि प्रगल्भा चेदुत्कर्षं प्राप्ता भवति, नोचेन्न क्षमते। तेनैवं पदयोजना, इन्द्रियजयं कर्त्तुमशक्तः सन्विषयैर्वशो यो मद्भक्तः स विषयैः पराजितो न भवति परमया भक्त्या। तथा च अनेनापि भक्तिरुत्तरोत्तरमधिका कार्या, यावच्छक्यमिन्द्रियनिग्रहश्च कर्त्तव्य इति सूचितम्। यद्वा, पूर्वमजितेन्द्रियः सन् स विषयैबाध्यगानोपि, यदा तत्सर्वं परित्यज्य प्रागल्भभक्तिमान् भवति तदा नाभिभूयत इति। अथवा प्रौढिप्रकारमेव प्रभुराह 'बाध्यमानोपि' इति। तथाहि प्रभुर्द्वेधाप्यङ्गीकरोति मर्यादया पुष्ट्या च। तत्र पुष्ट्या यमङ्गीकरोति स नाभिभूयते, प्रगल्भया पुष्टिमार्गीयया। एवमङ्गीकारे निमयाभावा'त्प्राय' इति। यथा राजानोतिकृपापात्राय यकिञ्चिदपि कार्यमकुर्वाणायापि सर्वस्वं ददति, तस्य सहस्रमप्यपराधान्न मन्यन्ते, गालिदानेपि परिहासं मन्यन्ते।

अन्यस्मै च कार्यमकुर्वाणाय किमपि न प्रयच्छन्ति, उच्चैर्भाषणेपि दण्डं विदधति, स्वतन्त्रा यत: तथा भगवानपि यस्मै अतीव कृपयति तस्मै निःसाधनायापि सर्वस्वं ददाति, तस्य सहस्रमपि दुराचारान्न मनुते। यत्र क्षुद्रा: खण्डमण्डलाधिपतयोपि स्वैरचारिणो भवन्ति, तत्र किं वाच्यं त्रिभुवनपरिवृढस्य पुरुषोत्तमस्य स्वच्छन्दा आवरणे। यद्यपि प्रभु: कदाचित्साधनं नापेक्षतेपि तथापि मर्यादा कदापि कस्यापि न हेया, किन्तु कार्यैव। सर्वेषां प्रभोरिच्छा दुर्ज्ञेपा, यत: को वेद भगवान्कथं वा मनुते, कदाचित्प्रभु: लोकसङ्ग्रहार्थमपि कारयति, कदाचिदेवमपि। अत:करणे न बाधकमकरणे तु कदाचित्प्रभुकोपोपि सम्भावित:। तस्मात् ''पाक्षिकोपि दोष: परिहरणीय'' इति न्यायेन करणीयैव मर्यादा। यदि च मर्यादात्यागे प्रभोरिच्छां जानीयात्तदा त्यागेपि न क्षति:। अत एव गुर्वादिहननं विदधानोपि पार्थो न दोषभाग् जात:। यदा च ज्ञानस्य भक्तेर्वा प्राचुर्येण देहाद्यनुसन्धानमेव निवर्त्तते तदा त्यागे न दोष:। अत एव ऋषभदेवजडभरतादीनां तथैवा आचरणम्। यदा च भगवद्वार्त्तादिषु व्यसनं स्यात्तदा ज्ञात्वापि मर्यादात्यागे न दोष:। अत एव 'तावत्कर्माणि' इत्यादि। यदा च तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते तदापि न दोष:। अत एवा''पि चेदसि पापेभ्य'' इत्यादि। तस्माद्यावच्छक्यामिन्द्रियनिग्रह: कर्त्तव्य इति सिद्धम्। अत एव 'सर्वेन्द्रियोपशाक्त्या च'।

तत्र भगवदिच्छया यदा भविष्यति तदा भवत्विति प्रकारकमालस्यं न कार्यं किन्तु स्वयमुद्यम्येन्द्रियनिग्रह: कर्त्तव्य इति ज्ञापनाय **स्वयम् इति।**

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवायनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ।।८।।

बहुवचनेन सर्वेन्द्रियभोगस्त्याज्य इति सूचितम्। यद्वा, भोगानत्यज्यन्तमन्यं दृष्ट्वा कदाचित्कश्चिदालस्यं कुर्यात्तत्र आहु: स्वयम् इति, अन्यस्त्यजतु, मा वा, स्वयन्तु त्यजेत् इति अर्थ:। न ह्यन्यत्रापकर्षं दृष्ट्वा स्वयमप्यपकृष्टेन भाव्यं, किन्त्वन्यत्रोत्कर्षं दृष्ट्वा स्वयमुत्कृष्टेन भाव्यम्। अत एव तैत्तिरीयोपनिषत्स्वाचार्येण शिष्यशिक्षणप्रकारे ''यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि'' इति उक्तम्। भोगस्य सामग्र्यां सत्यां धैर्यं दुष्करम् इति पूर्वमेव सामग्रीमेव न सम्पादयेद् इति **ज्ञापनायेन्द्रियकार्याणि इति।**

अन्यथा 'भोगांस्त्यजेत्' इत्येवोक्तं स्यात्। अत एव ''मात्रा स्वस्रे'' त्यादि। तेन समूलघातं भोगं हन्यात् इति पर्यवसितोर्थ:। अत एव शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वेत्यादि। त्यागे प्रकारम् आहु: कार्येति। कायेन वाचा मनसा च इति अर्थ:। द्वन्द्वसमासोयम्। ''सर्वो हि द्वन्द्व'' इति एकवद्भाव:। यद्वा ''कायवाग्भ्यां सहितं यन्मन'' इति मध्यमपदलोपीसमास:। तेन कायवाचोगौणत्वं तृतीयया सूच्यते। तथा च मुख्यो मानस एव त्याग:। कायिको वाचनिकश्च गौण:। अत एव गीतासु ''कर्मेन्द्रियाणि संयम्य'' इति आदि। नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति। यत: कठिनतम इन्द्रियनिग्रह:।

अत एव गीतासु ''इन्द्रियाणि प्रमाथीनि'' इति आदि। उपदेशश्चासम्मत:। न हि शास्त्रमप्यशक्यमुपदिशति। अत: कथमुपदेश इति चेत् तत्र आहुरशूरेणापि इति। अशूर इन्द्रियजयं कर्त्तुमशक्त:। तादृशेनापि यथाशक्तीन्द्रियदमनं कर्त्तव्यम्। तत्र हेतु: स्वस्येति भावनात्, विचारणात्। अयमभिसन्धि:। यदि जीव: स्वयं स्वदोषान्निराकर्त्तुं समर्थ: स्यात्तदा मर्यादोल्लङ्घनेन जनितदोषान्निवार्य सुखी स्यात् परन्तु स्वयमसमर्थ: न हि ईश्वरमर्यादां मनसाप्यन्यथा भावयितुं कोपीष्टे। अत ए''वेन्द्रियाश्वविनिर्ग्राह'' इति आदि विचारश्चावश्यक:। न हि विना विचारं कोपि कुत्रापि प्रवर्त्तते। ''न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि प्रवर्त्तत'' इति न्यायात्। कुतस्तराञ्च विवेकी। पदसम्बन्धस्तु, स्वस्यासामर्थ्यविचारणादशूरेणापि इन्द्रियनियमनं कर्त्तव्यम् इति ।।८।।

ननु निग्रह: सर्वथावश्यक इति सत्यं परन्तु यदि कथमपि कर्त्तुं न शक्नोति तदा किं तस्य नाश एवाहोस्वित्कथञ्चिन्निस्तार इति आशमायाम् आहुरशक्य इति।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।
एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ।।९।।

अशक्येऽर्थे हरिरेवास्ति। रक्षक इतिशेष:। तत्र हेतु:, **सर्वम् इति।** आश्रयत: भगवदाश्रयं कुर्वत: पुरुषस्य **सर्वं भवेत्।** आश्रयत इति पञ्चमी वा। इदमत्राकृतम्, यदि सर्वथा अशक्यं ज्ञात्वा केवलं भगवच्छरणमेव भावयति तदा दयया भगवानेव तस्य सर्वं साधयति, अतो भगवदाश्रयात् सर्वसिद्धि:। अत एव 'किरातहूणे'त्यादि। अतो न तस्य नाश:। अत एव कौन्तेय प्रतिजानीहि'' इत्यादि। सर्व दु:खहर्त्ता **हरि:**। तेन दीने परमदयालुरित्यवश्यं कार्यं साधयत्येवेति ज्ञापनाय हरिपदम्। एव कारेणान्यव्यच्छेद:। न ह्यन्य: सर्वेषां सर्वदु:खानि निवार्य सर्वानन्दं दातुं शक्त:। एवं सर्वथा अशक्ये रक्षकत्वेन भगवद्भावनमपि गौण: पक्ष:। मुख्यपक्षे तु भगवान् किमपि करोतु, स्वेन तद्भावनमपि न कर्त्तव्यम्। न ह्येतावानपि समोच: प्रभौ दातुमुचित इति ज्ञापनाय रक्षक इति विधेयपदस्याप्रयोग एव, किन्त्वध्याहार:। 'ब्रह्मवर्चसकामस्तु' इत्यादिवाक्यात्प्रतिनियतकार्यसाधका अन्ये, भगवांस्तु सर्वं साधयति, ''अकाम: सर्वकामो वे''ति वाक्यात्। तदाहु: सर्वम् इति। अत एव ''किमलभ्यम् इत्यादि। आश्रयत इत्यासमन्तात् श्रयत: सेवां कुर्वत: 'श्रिञ्सेवायां' सेवा च चित्तस्य तदेकपरता, 'चेतस्तत्प्रवणम्' इति लक्षणात्। तदनुकुला च या काचन कृति:, सा सर्वापि सेवैव। अत एव ''मानसी सा परामता'' इति। तादृश्येव च कृति: सन्तोषजनिका, सेवा च सन्तोषजनिकैव। 'यद्ध्ये'ति वाक्यात्। लोकेपि तात्पर्यपूर्विकैव कृति: सन्तोषजनिका। तथा च, स्वज्ञानानुसारेण प्रभुसन्तोषजनिकां ज्ञात्वा निरन्तरं कृति: कार्येति सिद्धम्। शतृप्रत्ययेनाश्रयत्यागे किमपि न सिद्ध्यति इति अपिसूचि। अत एव ''पतन्यत्यधो अनादृत युष्प्रदङ्घ्रय'' इत्यादि। अशक्य इति पदाच्छक्यत्वे अवश्यम् इन्द्रियनिग्रह: कर्त्तव्य इति सूचितम्। शक्तौ सत्यां मर्यादोल्लङ्घने प्रभुरपि

क्रुद्ध्यति। अशक्यत्वे दयाविष्टः सन्सर्वमेव साधयति इति निगर्वः। अत एव सकलदुःखदूरीकरणज्ञापितपरमदयालुत्वज्ञापकं हरिपदं प्रयुक्तवन्तः। अत एव ''समस्तदुःखात्ययमाशुधत्त'' इति आदि। ननूपक्रमे त्रिदुःखसहनं धैर्यम् इति उक्तम्, उपसंहारे च विषयभोगरूपसुखस्य त्याग उक्तः तथा चोपक्रमोपसंहार विरोध इति आशङ्क्य निराकुर्वन्त उपसंहरक्त्येतत् इति अत्र धैर्यप्रकरणे एत''त्रिदुःखसहनं धैर्यम् इति उक्तम्, उपसंहारे च विषयभोगरूपसुखस्य त्याग उक्तः तथा चोपक्रमोपसंहार विरोध इति आशङ्क्य निराकुर्वन्त उपसंहरक्त्येतद् इति। अत्र धैर्यप्रकरणे एत 'त्रिदुःखसहनम्' इति आरभ्य यन्निरूपतं तत्सर्वं सहनमेवोक्तम् इति अर्थः। न हि दुःखपसोढ्वा भोगत्यागः कर्त्तुं शक्यते, तेन भोगत्यागेनापि पर्यवसन्नं दुःखसहनमेवोक्तम् इति नोपक्रमोपसंहारविरोधः। नन्विदं न सङ्गच्छते। तथा हि, भवद्भिः सहनमेव धैर्यमुच्यते, तच्च सङ्गतं, वचनविरोधात्, वचनेषु सर्वत्रोभयोर्भेदात्। तानि च 'तेजो बलम्' इति आदीनि। अत एव श्रीमदुद्धवैः पृथक् पृष्टं श्रीमद्यदुवंशजलधिरत्नेनापि तथैवोत्तरितम्। तस्मादुभयोरैक्यं कथं घटत चेद्, अत्र वदामः। अन्यत्र यथा तथास्तु, अत्रास्मिन्ग्रन्थे एतद्धैर्यमेव सहनमुक्तं न तु भिन्नम् इति पदसम्बन्धः। वस्तुतस्तु द्वयोरैक्यमेव। उक्तप्रश्नोत्तरयोर्भिन्नतया कथनन्तु अवस्थाभेदमाश्रित्य। नतु क्षमाधृत्योर्भेदः। अत एवोत्तरे ''तितिक्षा दुःखसम्मर्श'' इति सामान्यतः सहनमुक्तम्। ''जिह्वोपस्थजयोधृतिरि''ति विशेषतः। न हि जिह्वोपस्थयोर्जयस्तदुभयसम्बन्धिदुःखसहनादन्योस्ति। ये हि तदुभयजयनिमित्तं यतन्ते ते तयोर्निग्रहे क्रियमाणे जिह्वाविषयस्य सुस्वाद्वन्नादेरुपस्थविषयस्य स्त्र्यादेरलाभेन यद् दुःखमापद्यते, तत्कीदृशमपि कठिनं सहन्ते नन्वन्यत् किञ्चित्कुर्वन्ति। यथा – यथा चाभ्यासस्तथा तथा अनायासेन सहन्ते। अत एव गीतासु क्षात्रस्वाभाविककर्मसु ''शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यम्'' इति धैर्यं गणितम्। न हि जिह्वोपस्थयोर्जयः क्षत्रियाणां सहजो धर्मः किन्तु दुःखसहनमात्रम्। अत एव गीतासु, (११) ''धृतिं न विन्दामि गीतासु (१८)'' धृत्या यया''। उद्देशक्रमानुसारेणाश्रयम् आहुराश्रयोत इति। अत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। अत इदं द्वयं निरूप्य इति अर्थः। तेनैवं पदसम्बन्धः। अतः विवेकधैर्ये निरूप्य तदनन्तरमाश्रयो भगवदेकशरणत्वं नितरां विविच्य रूप्यते कथ्यत इति। तथा चातः परमाश्रयो निरूप्यत इति अर्थः। यद्वा हेतौ पञ्चमी। अत आभ्यां विवेकधैर्याभ्यां हेतुभ्यामाश्रयो निरूप्यत इति अर्थः। यद्यपि भगवदनुग्रहं विना नाश्रयः सम्भवति, तथापि, यदा साधनद्वाराङ्गीकरोति तदा विवेकधैर्येपि साधने। अत इति सहार्थे तृतीया। सार्वविभक्तिकस्तसिल्। तथा च, विवेकधैर्याभ्यां सहाश्रयो निरूप्यत इति अर्थः। तृतीयया विवेकधैर्ययोरप्राधान्यं, प्राधान्यं चाश्रयस्यैवेति निरूप्यते। अथवा एतद् विवेकसहितं सहनं धैर्यमत्रास्मिन्ग्रन्थे उक्तं कथितम्। अतो हेतोराश्रयो निरूप्यते अयमभिसन्धिः। आश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन विवेकधैर्ये उक्ते, तेन यद्याश्रयो न निरूप्यते, तदा विवेकधैर्यनिरूपणं व्यर्थं स्यात्। तथा चैवं पदसम्बन्धः। यतः कारणादाश्रयनिरूपणार्थमङ्गत्वेन विवेकधैर्ये उक्ते, अतो हेतोर्विवेकधैर्ययोर्निरूपणस्य

सार्थकत्वाय विवेकधैर्यनिरूपणानन्तरमाश्रयो निरूप्यत इति। बुद्धिस्थवाचकत्वात्सर्वनाम्नां पूर्वं च विवेकसहितमेव धैर्यमुक्तम् इति विवेकसहितमेवैतत्पदेनोच्यते। यद्वा, एतद्विवेकसहितं सहनं धैर्यम्, अत्राश्रये उक्तमभिहितमतो हेतोस्तदुभयनिरूपणानन्तरं यत्रेदं द्वयं निरूपितं स आश्रयो निरूप्यत इति। तथाहि अत्र हि भगवदाश्रये क्रियमाणे यादृशे विवेकधैर्ये अपेक्षिते तादृशे निरूपिते, स **आश्रयस्तदुभयनिरूपणानन्तरं** निरूप्यत इति। आश्रयः आसमन्तात् श्रयः सेवनम्, श्रिञ्सेवायाम्, अस्मात् घञ्। सेवा च चित्तस्य तदेकपरत्वम्, अत एव ''चेतस्तत्प्रवणं सेवे''ति लक्षणमुक्तमाचार्यैः। यद्यपि, मनोवाग्देहैः सेवा त्रिविधा, तथापि मुख्या मनोव्यसनरूपस्नेहात्मिका। अन्या तु सेवा तत्साधनरूपा। अत एव ''चेतस्तत्प्रवणं सेवे''तिलक्षणमुक्त्वा ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजे''ति सेवान्तरस्य तत्साधनत्वमुक्तम्। मनोवचनरूपायास्तु ''मानसी सा परा मते''ति मुख्यत्वमुक्तम्, इयमेव भक्तिरित्युच्यते। शाण्डिल्यसूत्रे ''सा परानुरक्तिरीश्वर'' इति लक्षणात्। अत एव नारदपञ्चरात्रे ''स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त'' इति लक्षणमुक्तम्, तत्र माहात्म्यज्ञानपूर्वकं तु अपराधनिवृत्त्यर्थम्, न तु लक्षणे प्रविष्टम्। श्रवणादिलक्षणा तु भक्तिस्तस्याः साधनरूपा, अत एव ''भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये''ति। अतः सेवामार्गो भक्तिमार्गश्चैक एव ।।९।।

प्रतिज्ञातमाश्रयं पद्यचतुष्टयेन लक्षयन्ति, **ऐहिक** इत्यादिना।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।
दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ।।१०।।
भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।
अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ।।११।।
अहमारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।
पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यतिक्रमे ।।१२।।
अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।
एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ।।१३।।

एवं चित्त इति अनेनान्वयः। ''मुख्यो मानस'' इति पूर्वमानसोक्तिः। तत्र सङ्क्षेपत आश्रयस्वरूपमर्द्धेन पद्येनाहुरैहिक इति ऐहिके इह लोक सम्बन्धिनि, परलोके परलोकसम्बन्धिनि कार्यमात्रे सर्वथा सर्वैः प्रकारैः हरिः श्रीकृष्णः शरणं रक्षकोस्तु। एवं चित्ते सदा भाव्यम् इति अग्रिमेणान्वयः। रक्षणं चात्र हितकारित्वं, न तु प्राणरक्षकत्वमात्रम्, लोकेपि महाशास्त्युपस्थितौ धनादिमोषे वा उपस्थिते तस्मान्निवारणे कृते अनेनायं रक्षित इति प्रयोगः। तेनैहिकपारलौकिकयोरर्थयोः सर्वैः प्रकारैस्त्वमेवास्मद्धितकारी भवेति प्रार्थना। जीवाः प्रायेण स्वस्य हितमपि न विदन्ति। हितज्ञानेऽपि प्रबलेषु स्वदोषेषु विद्यमानेषु प्रबलैः प्रत्यूहैः कृत्वा स्वहितं

कर्त्तुं न शक्नुवन्ति। तस्मात्त्वमेव सर्वान्दोषान्निवार्य हितं साधयेति भाव: कटाक्षित:। केचनैतादृशा ये किमपि न प्रार्थयन्ते, उत्तमाश्च त एवेत्यपि ज्ञापयितुमस्त्विति प्रार्थनार्थकक्रियापदस्याप्रयोग:। नन्वेतादृशा: के सन्ति, येषामैहिकं पारलौकिक च किमपि न प्रार्थनीयमस्ति। न हि परमविरक्ता अपि पारमार्थिकाद्विरज्यन्त इति चेत्, अत्र वदाम:। येषां प्रभुचरणारविन्दे व्यसनमस्ति ते मुक्त्यादिकमपि नेच्छन्ति इति पारमार्थिकमपि न प्रार्थयन्ते। अत एव ''न नाकपृष्ठं'' 'नैकात्मताम्' इत्यादिवचनानि। ननु ये मुक्तिं न वाञ्छन्ति, तेपि प्रभुचरणारविन्दानुरागरूपां भक्तिं वाञ्छक्त्येव, न हि भगवदीयास्ततोपि निरपेक्षा भवन्ति। अत: सा भक्तिरेव परमार्थिकी प्रार्थनीयास्ति इति प्रार्थनानिरपेक्षा: सर्वदुर्ल्लभा इति चेत्, सत्यम्, दुर्ल्लभा एव, क: सन्देह: परन्तु दुर्ल्लभा एव, नत्वलभ्या: तथाहि ये चरणारविन्दे व्यसनिनस्ते ततोपि निरपेक्षा:। यदि तावदप्यपेक्षितं स्यात्तदा तद्व्यसनमेव न स्यात्। व्यसनं हि तदेव हि तदेव यत्र तद्विना स्थातुमेव न शक्नोति, इदमेव (व्यसनं) तत्र प्रवृत्तिनिमित्तं नत्वन्यत् किञ्चित्। अत एव लौकिकेपि द्यूतादौ ये व्यसनिनस्ते स्थातुमशक्ता एव तत्र प्रवर्त्तन्ते, नत्वन्यन्निमित्तमस्ति। ननु धनाशैव निमित्तमस्ति इति चेत्, रे हृदयशून्य ? यदि धनाशैव निमित्तं स्यात् तदा मुहुर्मुहु: पराजिता अपि कथं प्रवर्तेरन् ? सन्देहादेव प्रवर्तन्त इति चेत्, ज्योतिर्विद्भि: समूलघातं सन्देहे हतेपि प्रवर्त्तन्त एव। न ह्युपायसहस्रेणापि तत्तद्व्यसनिन: कथमपि तेभ्यो निवर्त्तन्ते क्वचित्। किञ्च इदमपि द्युते आशमितं स्यात्, व्यसनान्तरेषु का गति:, न हि पापर्द्धिपरायणा मैरेयमत्ता: परदाररताश्च धनाशया प्रवर्त्तन्ते, प्रत्युत शम्भलीभुक्तसर्वस्वास्ते। तस्माच्चरणारविन्दव्यसनिनोपि निमित्तनिरपेक्षा एव, अत एव कपिलदेवेनापि ''अनिमित्ता भागवति'' इति फलभक्तिलक्षण मुक्तम्। यदि किमपि निमित्तं तत्र विद्यते तदा अनिमित्तत्वं कथं वदेत् ? अग्रे च ''अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति: पुरुषोत्तमे'' इति उक्तम्। 'कुर्वक्त्यहैतुकिमपि'। अत एव कौण्डिन्यप्रभृतयस्तथाभूता:। अत एव व्रजवासिनामपि तथा भाव:। ननु यदि व्यसनिन: किमपि न प्रार्थयन्ते, सर्वनिरपेक्षत्वात् तदा व्रजवासिन: कथं प्रार्थितवन्त: ? न हि तदपेक्षयाप्यन्ये व्यसनिन: सन्ति ''क्षणं युगशतमिव'' इत्यादि वाक्यात्। प्रार्थ्यते च तैरनारतमेव। ननु कैरुक्तं तै: प्रार्थ्यत इति ? शुकादिभिरेव। कुत्र ? श्रीभागवतादावेव। तथाहि, ।।१२।। ''राम ! राम !'' ।।१६।। ''कृष्ण ! कृष्ण !'' ।।२०।। ''राम ! राम !'' ।। ''कृष्ण ! कृष्ण !'' ।।२६।। ''मैवं विभो'' ।।४४।। ''मनसो वृत्तय:'' ।।७९।। ''आहुश्च ते'' इति आदिषु तत्कर्तृकप्रार्थना श्रूयते। न च तन्न प्रार्थनं किन्तु कथनमात्रम् इति वाच्यम्, ''इति विज्ञापितो गोपैरि''त्यादि शुकोक्तिव्याकोपात् विज्ञापनं प्रार्थनमेवं, अपि च, अन्ये तु मुक्त्यादिनिमित्तं प्रार्थयन्ते, न त्वैहिकनिमित्तम्। एते तु क्षुधादिनिवृत्त्यर्थमपि प्रभुं प्रार्थयन्ते। अल्पतमे क्षुन्निवृत्त्यादावपि यदि प्रभुं प्रार्थयन्ते तदा किमुवाच्यं महति कार्ये, यत्र निरूपमनिरूपधिनिरवधिस्निग्धा व्रजवासिनो अजस्रमर्थयन्ते तत्रान्य: को वा सनाथ: स्वनाथं न नाथेत्। तस्मादपार्थ:

प्रार्थनारहितान्वेषणप्रयास इति चेद् अत्रोच्यते। प्रथमं तावत्प्रार्थनास्वरूपं विचारय, प्रार्थना नाम क: पदार्थ:। ननु ममेदमपेक्षितम् इति अपेक्षितकथनं प्रार्थनेति चेत्, न राज्ञ: सेवकं प्रत्येवं वचनमपि प्रार्थना स्यात्, न हि सा प्रार्थना, किन्त्वाज्ञा। तथा मित्रं प्रति अन्यं कञ्चिदुदासीनं प्रति तादृग्वचनमपि प्रार्थना स्यात्। न हि सा प्रार्थना किन्तु, कथनमात्रम्। ननु तस्य प्रार्थनात्वे किं बाधकम् इति चेत्, प्रयोगाभाव एव, न हि तत्र राज्ञा मित्रेण वा इदं प्रार्थ्यत इति कश्चिप्रयुमे। ननु लाभहेतुकं वचनं प्रार्थनेति चेत्, न प्रार्थनानन्तर लाभे तद्वचनस्य प्रार्थनात्वं न स्यात्। लाभरूपकार्याभावेन पूर्ववर्त्तित्वादिरूपकारणत्वा अभावात्। न च सा न प्रार्थनेति वाच्यम्, प्रार्थितमनेन न दत्तम् इति प्रयोगात्। ननु लाभेच्छया वचनं प्रार्थनेति चेत्, न प्रजाभ्यो धनं गृह्यताम् इति राजाज्ञाया अपि प्रार्थनात्वप्रसङ्गात्। करादिसञ्ज्ञया प्रार्थने अव्याप्तेश्च। न च तत्प्रार्थनमेव न भवति इति वाच्यम्, हस्तेनायं याचत इति प्रयोगात्। गृहीतमौनव्रतस्य भोजनादावपि तथात्वात्। स्यादेतत्। न वयं वचनपर्यन्तं वदाम:, किन्तु लाभेच्छया यत्क्रियते तत्सर्वं प्रार्थनेति, तस्माल्लाभार्थमुद्यम: प्रार्थनेति चेत्, मैवम्। एवमत्राप्याप्तिव्यावर्त्तनेपि राजाज्ञायामतिर्व्याप्तिर्वज्रलेपायितैव। ननु दयोत्पादकं वच: प्रार्थनेति चेत्, मैवम्। शृण्वतां दयोत्पादकं ''दुष्टमेनमाशु मारये''ति महादारुणवचसोपि याञ्चात्वप्रसङ्गात्। ननु सम्बोध्यस्य दयोत्पादकं वच: प्रार्थनेति चेत्, न, आज्ञप्तस्य दयालुत्वे उक्तवचने अतिव्याप्ते:। निर्दयं प्रति प्रार्थने व्याप्तेश्च। अश्रवणे चाव्याप्ते:। न चेदं द्वयमपि न याञ्चेति वाच्यम्, निर्दयोयमेतत्प्रार्थनां न मनुते, व्यग्रोयमेतत्प्रार्थनां न शृणोति इति च प्रयोगात्। किञ्च, ''अयं देवदत्तो भृशमक्लेशीद्'' इति प्रासङ्गीकोक्तावप्यतिव्याप्ते:। अथ स्वस्मिन्सम्बोध्य दयोत्पादकं वचस्तथेति चेत्, न ''सखे भृशमहमक्लेशिषम्'' इतिवृत्तवृत्तान्तवचने अतिव्याप्ते:। न हि सुहृत्क्लेशश्रवणेपि नानुकम्पते मन:। अथ दयार्थमुक्ति: प्रार्थनेति चेत्, न किं स्वस्मिन्दयार्थमाहोस्वित्परस्मिन्नुत सामान्यत:। न प्रथम:। परार्थं प्रार्थने अव्याप्ते:। न द्वितीय:। स्वार्थं प्रार्थने अव्याप्ते:। न तृतीय:। ''निर्दयमेनं सदयं कुर्वि''त्युक्तेन देवदत्तेन पूर्वराजकथादिभि: कृते क्रूरराजप्रबोधने अतिव्याप्ते:। न च या च नैव सेतिवाच्यम्। राजानमयं पुराणादिभि: प्रबोधति इति वद्याचत इत्यपि प्रयोगापत्ते:। तस्मात् मीमांसितव्यमेवैतद् इति चेत्, न, धात्वर्थविचारेण याचनैव प्रार्थना न च राजादिवचनादावतिप्रसङ्ग:। तत्र अपकर्षाद्यभावेपि प्रार्थनात्वस्येष्टत्वात्। अत्र निरपेक्षत्वमपि भगवत्स्वरूपभजनातिरिक्तनिरपेक्षत्वमेव। न हि भगवदीया भगवति निरपेक्षा: तथा सति ज्ञानमार्गपातात् ।।१३।।

शरणसिद्ध्यर्थम् आहुरन्यस्येति।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थना: कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ।।१४।।

देवान्तरस्य भजनं, तत्र देवान्तरसमीपे मार्गवशाद्यभावेपि स्वेच्छया गमनम्,

चकारात्तदर्थमन्यप्रेरणं च विवर्जयेत्। भगवति च कार्यमात्रे अल्पेपि कर्त्तव्ये अथवा सर्वेषु कर्त्तव्येषु प्रार्थना वर्जयेत्। अत्यशक्यार्थे प्रभौ प्रार्थनायां कृतायामपि मुहुः प्रार्थना न कार्येति बहुवचनम्। तथा प्रभुवद् अन्यत्र देवान्तरे प्रार्थना विशेषण वर्जयेत् ।।१४।।

नन्वेवं सति कथमिष्टसिद्धि ? प्रभुरपेक्षितं कुर्यान्न वेति चेत् तत्र आहुरविश्वास इति।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।
ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ।।१५।।

भक्तिमार्गे अविश्वासो न कर्त्तव्यः ''ये यथा मां प्रपद्यन्त'' इति वाक्यात्, सः सर्वथा बाधकः। विश्वासस्तु कर्त्तव्यः। अनयोः (विश्वासाविश्वासयोः) क्रमेण बाधकत्वसाधकत्वयोर्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यावनुसन्धेयौ। लमायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण बद्धो हनुमान्न चलितवान्, ततस्तैरन्यैः पाशैर्बद्धुमारब्धो ब्रह्मास्त्रे राक्षसानामविश्वासं दृष्ट्वा स्वयमपि ब्रह्मास्त्रमर्यादामुलङ्घ्य ततश्चलितवान्। ततो ब्रह्मास्त्रं व्यर्थमभूत्। एवं भक्तिमार्गा अविश्वासे भक्तिमार्गीयं सर्वं व्यर्थं भवति। चातकः पक्षिविशेषः, स्वातिर्वर्षिष्यति स्वाति जलमेव मया पेयम् इति विश्वासेन महदन्यत् जलं विहाय तिष्ठति, तदर्थं स्वातिर्वर्षति स पिबति। एवं भक्तिमार्गे हरिः सर्वं करिष्यति इति विश्वासेन भक्तिमार्गमर्यादां गृहीत्वा यस्तिष्ठति, तस्य योगक्षेमनिर्वाहं प्रभुः करोति ''तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्'' इति वाक्याच्च। सर्वं भगवत एव, अहं भगवद्दासो भगवदत्तमेव भगवते समर्पयामि इति ममत्वं त्यक्त्वा प्राप्तं सेवेतेत्याहुः प्राप्तं सेवेत निर्मम इति।

नन्वेवं ममत्वाभावे भगवत्कार्यातिरिक्तं कार्यं न कर्त्तव्यम् इति चेत् तत्र **आहुर्यथाकथञ्चित् इति।**

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।
किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ।।१६।।

उच्चावचान्यनेकप्रकारकाणि, वैदिकानि लौकिकान्यप्यविरुद्धानि कार्याणि। यथा कथञ्चित् न विस्तारेण कुर्यात्, व्यवहारोपयोगित्वाद्, व्यवहारस्य परम्परया भगवद्भजनोपयोगित्वात् इति अर्थः। कियन्तः प्रकाराः वक्तव्या इति सङ्क्षेपेण आहुः किं वा प्रोक्तेन बहुनेति। कर्मभिर्न मम निस्तारः किन्तु भगवदाज्ञया कृतैः भगवान्प्रसन्नः शरणं भवतु इति भावयेद् इति आशयेन आहुः शरणं भावयेद्धरिम् इति ।।१६।।

नन्वाश्रयनिरूपण अन्यस्य भजनवर्जनादिकं किम् इति उक्तम् इति **आशङ्क्याहुरेवमाश्रयणम् इति।**

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।
कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।१७।।

इति श्रीमद्वैश्वानरश्रीवल्लभाचार्यचरणविरचितो
विवेकधैर्याश्रयः सम्पूर्णः।

''यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम्। अलोकयेन्न कृपया, अनन्यजनवत्सल'' इति प्रह्लादवाक्यात्। अन्यभजने सम्यगाश्रयणमेव न सिद्ध्येति तदभावस्याङ्गत्वात् प्रथमाधिकाररूपत्वात्। अनेन प्रकारेण साङ्गमाश्रयणमेव प्रोक्तं तत्सर्वेषां वर्णानामाश्रमाणां च सर्वकालं सुखकारि। ननु मुख्या भक्तिः कुतो नोच्यत इति आशङ्क्य, ''प्रायेणाल्पायुषः सूत कलावस्मिन्युगे जनाः। मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुता'' इति कलावेतादृशा जनाः किं साधयेयुः ? अशक्योपदेशे वा अनाप्तत्वं स्यात्। इत्येवमाश्रये क्रियमाणे भगवान्कृपया भक्तिमपि दास्यति इति आशयेन आहुः **कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिरिति। भक्तिरादिर्येषां ते भक्त्यादयः।** तेन च ते मार्गश्च भक्त्यादिमार्गाः। प्रावाहिकभक्तिमार्गो मर्यादाभक्तिमार्गः पुष्टिभक्तिमार्गश्चेत्यर्थः ।।१७।

विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिः कृतिशर्पणे ।
श्रीगोविन्दसुतेनोक्ता गोकुलोत्सवसूरिणा ।।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीगोविन्दरायात्मज
श्रीगोकुलोत्सवविरचिता विवेकधैर्याश्रयविवृतिः सम्पूर्णा।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीद्वैश्वानरावतारश्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचितः ।

विवेकधैर्याश्रयः ।

श्रीश्यामलसुतश्रीव्रजरायचरणविरचिता विवृतिः ।

यत्प्राप्तिमात्रतो नूनं रतिः स्याद्गोकुलाधिपे ।

स श्रीमदाचार्यपादरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ।।१।।

अथ श्रीमदाचार्यचरणा निबन्धे वैदिकयोः कर्मज्ञानमार्गयोर्भक्तिमार्गस्य च सम्यक्प्रपञ्चितत्वेपि कलौ तेषां दुःसाध्यत्वं विमृश्य तत्रासमर्थानामर्थे सङ्क्षेपेण ''जगन्नाथे विट्ठले चे''त्यत्रोक्तं प्रपत्तिमार्गं हृदि सिद्धवत्कृत्वेदानीं तं प्रपञ्चयिष्यन्तस्तस्य मार्गस्य पूर्वोक्तमार्गत्रयोपकारकत्वञ्च बोधयिष्यन्तो विवेकधैर्याभ्यामाश्रयस्य सिद्धिं बोधयितु तत्साधने विवेकधैर्ये रक्षितुं नियुञ्जन्ति, तद्रक्षणस्यावश्यकत्वं वा बोधयन्ति। विवेक इत्यादि।

विवेकधैर्ये सततं रक्षणीये तथाश्रयः ।

विवेकस्तु हरिः सर्वं निजेच्छातः करिष्यति ।।१।।

सततं निरतरं रक्षणीये इति प्रैषे प्राप्तकाले वा अनीयस्तेन नियोग आवश्यकत्वञ्च समञ्जसम्। रक्षणे नैरन्तर्योक्त्या आश्रयोत्तरमपि तद्रक्षणावश्यकत्वं बोध्यते। रक्षणञ्चात्र तन्नाशकनिवारणेन तत्पोषणम्। एतदेव साम्प्रदायिकैः स्वीकारत्वेन तदनुसन्धानपूर्वकतदनुकूलाकृतिकरणत्वेन च बोधितम्। तेन च फलम् आहुस्तथाश्रय इति। तथाकृते आश्रयः सिद्ध्येत् इति अर्थः। यद्वा, ते तथा तेन प्रकारेण रक्षणीये यथा आश्रय सिद्ध्येत् इति अर्थः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् क्रियामात्रस्यैवाध्याहारः। आश्रये क्रियासम्बन्धस्य कण्ठतो अनुक्त्या पृथगुपादानेन च स्वकृत्यसाध्यत्वं तुष्टप्रभुदानसाध्यत्वञ्च ज्ञाप्यते। ''सो अहं तवाङ्घ्र्युपगतो अस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भगवदनुग्रहमीशमन्य'' इति अक्रूरस्तुतौ सुबोधिन्यां तथा प्रपञ्चनात्। **अत्र साम्प्रदायिकाः।** अध्याहरापेक्षया अनुसङ्गस्य वचनविपरिणामस्य च लघुत्वात्तथा आश्रयो रक्षणीय इति एवं योजनं ज्यायो मत्वा केचन त्रयाणां दण्डचक्रादिन्यायेन भक्त्युपायत्वसामान्यात् समप्राधान्यं रोचयन्ते। केचन पूर्वयोरेकपदेन कथनात् तृतीयस्य पृथगेवोपादानात्पूर्वयोरुत्तरहेतुत्वं युक्तमुत्पश्यन्ति। केचन त्रयाणां क्रमेणोक्तेः सेवायां

प्रवृत्तस्य पूर्वं विवेक आवश्यकस्ततो धैर्यम्, आश्रयस्तूभयनिर्वाहक इति तात्पर्यं प्रकाशयन्ति। यद्यप्यैवं मतत्रयमप्युपपन्नं तथापि समाप्तावाश्रयस्य फलसम्बन्धबोधनात् स्वस्वाभिसंहितरूपेणाश्रयस्यैव मुख्यत्वप्रकाशनाच्चाध्याहारेण योजनाप्यदुष्टैव। न च गौरवं शमनीयम्। तत्पक्षेप्यनुषङ्गविपरिणामयोर्द्वयोरङ्गीकारेण तौल्यात्। किञ्चैवं ''पृथक् शरणमार्गोपदेष्टे''ति नामापि पुष्टार्थं भवति। अन्यथा तु निबन्धे सङ्क्षेपेण निरूपणात्सुबोधिन्यामप्यन्यशेषत्वेन क्वचित् समीर्णत्वात्तत्र तत्र किञ्चित्-किञ्चित् कथनेन विप्रकीर्णत्वाच्च 'पृथक्'पदमपुष्टार्थं स्यात्। न चैवं सति भक्त्यङ्गत्वभङ्गात् सुबोधिन्यादौ तथात्वेन निरूपणं विरुद्ध्येतेतिवाच्यम्। उपकारकत्वेन गौण्यापि तत्सम्भवात्। किञ्चायं शरणमार्गो न भक्तिमार्गाद्विविक्तः, पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे पृथक् तदनुक्तेः। किन्तु प्रवाहादत्यन्तं विविक्तो भगवति स्वस्वामित्वस्य सर्वदानुसन्धानान्मर्यादाया अपि विविक्तः, पुष्ट्या समीर्णः। तेन प्रयोजकैक्यात्तत्र मिश्रभेदेष्वेतन्मिश्रत्वानुक्तेरत्र च समाप्तावाश्रयकथने ''कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति'' मार्गत्रयदुःसाध्यत्वस्य हेतुत्वकथनेनास्य भक्त्यादिमार्गानुकल्पत्वबोधनाच्च स्वरूपभेदात् त्रितयसजातीयः स्वफलसाधनेन तत्तदुपकारकश्चेति सिद्ध्यति। तच्चानुकल्पत्वं[1] 'नामान्यनन्तस्ये'त्यत्र प्रथमस्कन्धषष्ठे प्रपञ्चितम्। यद्यपि, तद्विरक्ताधिकारित्वं[2] तथापि गीताया द्वादशे अध्याये ''अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुमुद्योगमाश्रित'' इति अत्र 'सर्वधर्मानि'त्यत्र च, गृहस्थमर्जुनं प्रति कथनाद् गृहस्थाधिकारिकत्वमपि सिद्ध्यति। अनुकूलस्योपकारकत्वञ्च पूर्वतन्त्रसिद्धम्। एतावान्परं विशेषस्तत्र फलोपकारकत्वं सिद्धमत्र तु स्वरूपोपकारकत्वमप्यस्ति इति। तेन येषां यथा भातस्तैस्तथा विवृत इति न कोपि क्वापि विरोधः। ननु निबन्धोक्तस्यैवायं विस्तार इति कथं विनिगन्तव्यम् इति चेत्, इत्थम्। तत्र पूजाप्रवाहस्य भगवत्सान्निध्यगमकत्वमुक्त्वा तत्र तत्परत्वेन स्थितिः प्रपत्तिरितिमार्गस्वरूपं निष्कृष्टम्। परन्तु तच्छरीरप्रविष्टं तत्परत्वं न विचारितम्। तदत्र सिध्यति इति तथा विनिगम्यते। किञ्च, प्रपत्तिपदार्थः शरणगमनम्। ''कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् प्रपन्नभयभञ्जन, वयं त्वां शरणं याम'' इति भागधसंरुद्धराजवाक्यसुबोधिन्यां प्रपन्नभयनिवारकत्वं तवावश्यकं, ''अतो वयं प्रपन्ना भवाम'' इति आहु''र्वयं त्वां शरणं याम'' इति शरणगमनस्य प्रपन्नभवनत्वेन व्याख्यानात्।

---

१ अनुकल्पस्योपकारत्वं ''अपि शृण्वन् सुभद्राणि'' इत्यवैकादशेप्रपञ्चितम्।
२ ''अधिकारिकम्'' इति पाठः च।

तच्चात्र स्फुटमतोपि तथेतिदिक्। प्रकृतमनुसराम:। एवमुभयोर्विवेकधैर्ययो रक्षणं, तस्य फलसम्बन्धञ्च बोधयित्वा तयो रक्षणप्रकारमाश्रयस्यच मार्गं वक्तुं तेन तत्स्वरूपञ्च वक्तुमुद्देशानुसारेण प्रथमं विवेकस्य स्वरूपम् आहु: **विवेकस्तु** इत्यादि। **साम्प्रदायिकास्तु,** 'विवेकोयं समाख्यात:' 'एतत्सहनमत्रोक्तम्' ''एवमाश्रयणं प्रोक्तम्'' इति उपसंहारदर्शनात् सामान्यविशेषभावेन विवेकधैर्याश्रयाणां स्वरूपस्यैव निरूपणमत्र ग्रन्थनाम्ना समासव्यासधारणस्य विद्वदिष्टत्वेन च तथा कथनस्यौचित्याच्चेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति। तथा सति रक्षणप्रकारस्यार्थात् सिद्धि:। एवन्तु वचनात् इति शेष:। प्रकृतमनुसराम:। विवेकशब्द: पृथक्त्वे तज्ज्ञाने वा प्रसिद्ध:। यथा नित्यानित्यवस्तुविवेक इति। शीलविशेषे च यथा उचितसत्कारकत्तरि विवेकीति। ''विवेक: पुनरेकान्ते जलद्रोणीविचारयो''रिति कोशात्रिषु रूढश्च। तदत्र किमपि न विवक्षितम् इति ज्ञापनाय तुशब्द:। कस्तर्हि ? **हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति। हरि:** सर्वदु:खहर्त्ता सर्वं स्वीयानां लोकिकालौकिकं, निजेच्छात: स्वतन्त्रेच्छात:, क्रीडेच्छातो वा, निजानामिच्छातो वा, करिष्यति। अयञ्च विषयनिर्देशस्तेनैतद्विषयकमनुसन्धानं विवेक इति अर्थ:। अत्र हरिपदेन गजेन्द्रमोक्षकर्तृत्वस्फोरणात्पशुवदज्ञानामत्यन्त दु:खहारित्वं सूच्यते। निजेच्छात इति अनेन ''क्रीडाभाण्डमिदं विश्वं'' ''क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतम्''इति आदिवाक्योक्तं जगत: क्रीडाभाण्डत्वं स्मार्यते। इच्छाविशेषणीभूतनिजपदेन स्वस्य विशेषतस्तदीयत्वञ्च। अत: स्वस्याज्ञत्वे क्रीडाभाण्डत्वे वा स्फुरिते, ''विश्वस्य य: स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययययोगमाय:, क्षेमं विधास्यति स नो भगवास्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थ'' इत्यादिरूपेणानुसन्धेयम्। विशेषतस्तदीयत्वस्फूर्त्तौ ''अहं भक्तपराधीन:'' ''मयि ते तेषु चाप्यहं'', ''आत्मारामोप्यरीरमद्'' इत्यादिवाक्योक्तं भगवतो भक्ताधीनत्वं परोक्षेण हितकारित्वं स्वनिकटवर्तित्वं स्वरूपमर्यादामप्यतिक्रम्य भक्ताभिलाषपूरकत्वं यथाधिकारमनुसृत्य भाविहितकारित्वमनुसन्धेयम् इति तस्य – तस्य तादृक्तादृगनुसन्धानं विवेक इति भाव:। करिष्यति इति भविष्यदर्थकप्रयोगो भाव्यर्थचिन्ताया जायमानत्वात्तन्निवृत्त्यर्थो, न तु भूतवर्त्तमानयोर्भगवत्कार्यत्वानुसन्धानव्यावृत्त्यर्थ:। तेन करोत्यकार्षीत् **करिष्यति** इति त्रेधाप्यनुसन्धानं **विवेक** इति फलति ।।१।।

एवं स्वरूपं विवेकस्य निरूप्य रक्षणप्रकारं वदिष्यन्तस्तत्प्रसङ्गेन कामनायास्तत्पूरणसाधनस्य च तन्नाशकत्वं हृदिकृत्य गजेन्द्रवत् व्रजस्थवत् प्राप्तस्यापि प्रार्थनस्यबाधकत्वञ्च हृदिकृत्य ततो रक्षितुं प्रार्थनस्य फलव्यभिचारित्वं युक्त्या समर्थयन्ति **प्रार्थितेवेति।**

प्रार्थिते वा तत: किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंश्रयात् ।

सर्वत्र तस्य सर्वं हि सर्वसामर्थ्यमेव च ।।२।।

वेत्यनादरे, अभ्युपगम्य दूष्यते, **प्रार्थिते** प्रार्थनकृते तत: प्रार्थनात: किं **स्यात्** ? न किमपि इति अर्थ:। न हि गजेन्द्रस्य प्रार्थनातो मोक्षदानं किन्तु स्वेच्छात:। यदि तत: स्यात् प्राग्जन्मन्येव स्यात्, ''जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम्'' इति वाक्यात्तदानीमपि प्रार्थनस्य तुल्यत्वात्। किन्तु विचारितस्य मर्यादास्थापनस्य भक्त्या तोषस्य स्वसर्वात्मत्वज्ञापनादेश्च कार्यस्य जातत्वेन स्वेच्छात एव। अन्यथा ''नय मामि'' त्यत्र नान्तर्दध्यात्। अथा अपेक्षितदानमापातत: प्रार्थनयैव चेदाद्रियते तदापि, कालविलम्बेन फलव्यभिचारेण चान्यथासिद्धत्वम्। अथ सापि चेत् कथञ्चित् परिहियेत तर्हि, सा भगवदभिप्रायनिश्चयकृता प्रार्थना, न तु स्वाम्यभिप्रायसंशयकालीना। तथा सति तत्रापीच्छैव कारणत्वेन पर्यवस्यति इति तत्र प्रार्थनाया व्यापारतामात्रं सेत्स्यति। संशयकालीनायास्तु तदपि न। पत्युताधीरत्वज्ञापकतया क्रोधोपेक्षावहतया वा बाधकत्वञ्च। एतेनैव भ्रमकालीनापि व्याख्यातैव। किञ्च, यथा तथास्तु, स्वस्य जीवत्वेनाल्पज्ञत्वात् स्वमनोरथस्याप्यल्पत्वात्प्रार्थितस्तावदेव दास्यति कुब्जाया इव। कुमनीषित्वञ्चाधिकं भविष्यति। अप्रार्थितस्तु प्रभुरलौकिकत्वात्ततोनन्तगुणं दास्यति। तदुक्तं ''मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुरि''ति। तदेतदुक्तं प्रार्थिते **वा तत: किं स्यात्स्वाम्यभिप्रायसंशयात् इति**। तथा च प्रार्थनेन दाने विवेकस्य सामर्थ्यनाश:, अदाने खेदात् स्वरूपनाशस्ततोस्माद्बाधकादेवं विचारेण स रक्षणीय इति भाव:। एतेन कामनाया: पूरकं साधनान्तरं कैमुतिकादेव निरस्तम्। प्रार्थनैव चेन्निष्फला काम्यकर्माणि किमुतेति। ''सुखाय कर्माणि करोति लोको न तै: सुखञ्चान्यदुपारमं वा, विन्देत भूयस्तत एव दु:खं यदत्र युक्तं भगवान्वदेन्न'' इति तृतीयस्कन्धे काम्यकर्मणां फलव्यभिचारस्यानिष्टहेतुत्वस्य च विदुरेणैव दर्शितत्वात्। न च साङ्गाद्वैदिककर्मण: फलावश्यंभावनियमात्फलव्यभिचारो न प्राप्तावसर इति शङ्क्यम्, दक्षयज्ञादिवत् साङ्गताया एव दुर्घटत्वात्। इदं यथा तथा ''कर्मणां गहनागतिरि''त्यत्र निबन्धे प्रपञ्चितम् इति ततो अवधेयम्। नन्वस्त्वेवम् तथापि निन्दावाक्यात्कुब्जादावप्यभिप्राया अज्ञानादेव प्रार्थनस्य तथात्वं, ज्ञाने तु न तथा दोष इति स्वाभिलाषपूर्त्यर्थं प्रभुर्विज्ञापनीय एवेति चेन्न इति आहु: **सर्वत्रे** इत्यादि। **सर्वत्र** ब्रह्माण्डे अन्तर्बहिश्च तस्य स्वामिन: **सर्वं** वस्तुमात्रमस्ति इति शेष:। हीतियुक्तं क्रीडार्थत्वात्, सर्वसामर्थ्यञ्च तस्यैव, ''य: सर्वज्ञ: सर्वशक्ति:'', ''सर्वस्य वशी सर्वस्येशान'', इत्यादि श्रुते:। तथा च यदि दित्सेत् सर्वज्ञत्वादस्मदभिलाषं ज्ञात्वा तदैव दद्यात्। यदि जीवे तत्फलानुभवासामर्थ्यं पश्येत्तदपि विदद्यात्। तन्मनोभिलषितप्रकारेणैव स्वस्मिन्निपि तथात्वं प्रकटीकृत्य वा तन्मनोरथं पूरयेत्। एतदपि, ''एवं सन्दर्शिताह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता, गोपीभि: स्तोभितो अनृत्यत्'',

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्'' इत्यादिभिरुक्तम्। एवं सत्यपि यन्न ददाति तस्मान्न दित्सति इति निश्चितम्। निश्चिते चाभिप्राये प्रार्थना न प्राप्तावसरेति न प्रार्थनीय इति अर्थः। एतदेवाभिसन्धाय श्रीमत्प्रभुचरणैरुक्तं, ''यथा वयं तदीयाः स्मस्तथा सोपि निसर्गतः, अस्मत्प्रभुरतश्चिन्ता नैहिके पारलौकिक'' इति। एवं कामितपूरकाद्रक्षणप्रकार उक्तः। अतः परं कामनातो रक्षणप्रकारो वक्तव्यस्तं वक्तुम् आहुरभिमान इत्यादि।

अभिमानश्च सक्त्याज्यः स्वाम्यधीनत्वभावनात् ।
विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ।।३।।

अभिमानो गर्वः। यौगिकार्थगृहणे अभितः उभयतो मानो अभिमानः, स्वतः परतश्च चित्तसमुन्नतिः पूजा वा। तत्सर्वमत्राभिमान इति अनेन सङ्गृह्यते। चकारात्तत्साधनादिश्च। स सम्यक् लौकिकप्रकारेण त्याज्यः। तत्र हेतुः, **स्वाम्यधीनत्वभावनात् इति।** ल्यब्लोपे पञ्चमी। स्वस्य स्वाम्यधीनत्वं विभाव्य त्याज्य इति अर्थः। कामनामूलं हि गर्वश्चित्तोन्नतिः पूजा च। अहमीदृशः, ईदृशकुलोत्पन्नः, ईदृग्भिः प्रशस्यः, इत्याद्यनुसन्धान एव। तदनुरूपाकामनादर्शनात्। तदनुत्पत्तिर्निवृत्तिश्च स्वाम्यधीनत्वभावनया, तद्वतां तददर्शनात्। किञ्च, गर्वादिजनकस्य स्वोत्कर्षस्यापि तदधीनत्वमेव, तस्य सर्वकारणत्वाद्भावनीयम्। तथा सति यथेदं सम्पादितवान् तथा अन्यदपि सम्पादयिष्यति इति अपार्था कामना, तन्मूलो गर्वादिश्चद् इत्यादिभावनेन तन्निवार्य विवेको रक्षणीय इति भावः। एतेनेदमपि ज्ञापितम्, यद्भक्तानां दासत्वान्न स्वतोभिमानसम्भवः किन्तु दुःसङ्गादिवशात्। सोपि दासधर्मस्य स्वाम्यधीनत्वस्य भावनात्त्याज्यः। कदाचित्प्रभुः कृपया तदधीनत्वं स्वस्मिन् प्रदर्शयेत्तथा वा सेवां कारयेत्तदापि, तद्भावनात्स न कार्यस्त्याज्यश्च। यदि वा स्वतन्त्रेच्छत्वाद्दण्डं कुर्यात्तदा खेदोपि त्याज्य इति चकारोऽनुक्तसमुच्चायकः। अत्र हेतुवचनाद्देहाभिमाननिवृत्तिस्तु न विवक्षितेति प्रतिभाति। अथ विवेक्षिता तदा सेवनशरणागतप्रतिकूलदेहाध्यासनिवृत्तिर्ग्राह्येति न विवादलेशः। एवमान्तरो रक्षणप्रकार उक्तः। अतः परं बाह्यं वदिष्यन्त उक्तरि इति आभिमानत्यागेन रक्षणे तत्सिद्ध्यभिज्ञापकं भगवदाज्ञारूपमवान्तरफलमिव प्रदर्शयन्तस्तस्यां स्वाज्ञाविरुद्धायामुभयतः पाशारज्जुरिति शमामपि वारयन्तः, प्रयोजकविभागेन स्वरूपविभागेन विषयविभागेन च व्यवस्थाम् आहु**र्विशेषत** इत्यादि।

विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरणगोचरः ।
तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात् ।।४।।

उक्तहेतुर्हेतुपञ्चम्या अत्राप्यन्वेति। अन्यथास्य ग्रन्थस्याकस्मिकता स्यात्। सेवादेर्हेतुत्वपक्षेऽपि स्वाम्यधीनत्वभावनस्य तत्राप्या

वश्यकत्वात्सहकारित्वमदण्डवारित्तमेव। तथा च तस्मात्तत्सहकृतसेवादेर्विशेषतः श्रीमदाचार्याज्ञातो विशेषमाधिक्यं विषयीकृत्य वा आग्रहबोधकप्रकारतो वा दैहिकादाधिक्यं वैलक्षण्यं विषयीकृत्य वा चेद्भगवत आज्ञा स्यात्, तदा तत्प्रयोजकं विचारणीयं, किमयमन्तःकरणगोचरो न वा। अजहल्लिङ्गमिदम्। अन्तःकरणमभिप्रायस्तस्य गोचरः विषयभूता अभिप्रायप्रयुक्ता न वेति। किञ्च, अन्तःकरणस्य गोचरः, अन्तःकरणे विषयत्वेन भाता, न तु स्वाप्नी, न वान्यद्द्वारिकेतिस्वरूपमपि विचारणीयम्। न चैवं सकृदुच्चारितः शब्दः सकृदर्थं गमयति इति नियमभङ्ग इति शङ्क्यम्, प्रायिकत्वात्। अन्यथा श्लिष्टप्रयोगोच्छेदप्रसङ्गात्। अतोर्थद्वयमप्यत्र सङ्ग्राह्यम्। तत्र यद्यन्तःकरणप्रयुक्तत्वेनान्तःकरणे भाता स्वाप्नीप्रभृतितउत्कृष्टत्वेन च भाता, तदा तु दैहिकाद्देहसम्बन्धिनो भिन्नमाज्ञप्तं विशेषगत्यादि भाव्यमुत्पाद्यं कार्यम् इति यावत्। तथा चायमर्थः। आज्ञाविषयविचारेण तत्प्रयोजकं निश्चेयम्, यदि दैहिकविषया तदा नाभिप्रायपूर्विका किन्तु परीक्षार्था, तदा ततो अवगतं विशेषगतिसाधनादिकं न कार्यम्। यदि स्वसेवाविषया, यदि वा सेवाप्रतिबन्धकनिवर्त्तकविषया तदा साभिप्रायपूर्विका, **ततस्तदवगतो विशेषः** सामग्र्यादिविषयस्तादृशी गतिस्तीर्थदेशान्तरादिविषया, आदिपदेन तादृशं तत्साधनञ्च कार्यम्। तेन बाह्यतो रक्षणमान्तरस्य स्वनुष्ठितत्वाभिज्ञानमाज्ञाद्वयं विरोधपरिहारश्चेति सर्वं सामञ्जस्यम् इति भावः। पुष्टिमार्गस्य नानाविधस्यापि कृपात एव प्रकटनात्। ''सर्वधर्मान् परित्यज्य'', ''तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य'', ''भज तमाखिलसंशयाधिम्'' इत्यादिवाक्यैः शरणागतौ सेवायां च भगवत्तात्पर्यात्। ''अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'' इतिवाक्येन भगवत एव जीवस्याखिलनिर्वाहकत्वावगतेश्च नात्र कोपि शमालेशः।

ननु दैहिकातिरक्तिविषयायां भगवदाज्ञायां जातायां यदि तद्विरोधिनी काचिदापदन्तरा समागता, तदा आज्ञायाः करणे निर्वाहाभावादाज्ञाप्ताऽसिद्धिः, अकरणे तद्भङ्गात् स्वामिद्रोह इति उभयतः पाशारज्जुरित्यस्तत्रोपायम् आहुरापद् इत्यादि।

आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा ।
अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ।।५।।
विवेकोयं समाख्यातः

उक्तहेतुरत्राप्यनुवर्त्तते, आपदो गतिः प्राप्तिरापद्गतिः सा आदौ येषां, तादृशानि यानि कार्याणि, अशक्यार्था इति यावत्। तेषु ''स्वाम्यधीनत्वभावनात्'' **हठस्त्याज्यश्चाग्रहस्त्याज्यः।** चोप्यर्थे। अयमाशयः निर्वाहो ह्यभिप्रायस्य लिङ्गम्। प्रतिबन्धकापाते निर्वाहाभावत्सा आज्ञा नाभिप्रेता, परीक्षार्थैवेति निश्चेयेम्। नहि

भगवतो भक्ता आपदभिप्रेता, न वा कालादयस्तत्र प्रभवन्ति, ''ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्'' इति वाक्यात्। अत आपत्परा भूताया आज्ञाया: परीक्षार्थत्वेनानभिप्रतत्वान्नोक्तदोष:। किञ्च, हठे अनिष्टसम्भवात्सेवाप्रतिबन्ध: पर्यवस्यतीत्यतो हठो न कार्य इति ज्ञापनाय सर्वथेति। उक्तसमुच्चयार्थश्च। एतेनैवमरणे हेत्वनुसन्धानप्राबल्यादभिमाननाशे विवेकपोषणम्, हठे तु तन्नाश इति द्वितीयं कायिकं हठत्यागेन करणरूपं रक्षासाधनमुपदिष्टम्। अथ दैहिकादिविषये व्यवस्थाम् आहुरनाग्रह इत्यादि। 'कार्य' इति शेष:। चोनुक्तकार्यान्तरसमुच्चायक:। तथा च स्वत: सिद्धावतिसुखसाध्ये च न विचार:। सायासमप्यौदासीन्येन कार्यं, तेन विवेकपोष इति भाव:। अत्र हेत्वनुवृत्तिर्बोध्या। नन्वस्त्वेवं लौकिके, परं वैधस्य तु सामान्याज्ञाविषयत्वादाग्रह: प्रसृज्यैवेति चेत्तत्रोपायम् आहुर्धर्मेत्यादि धर्माधर्मयोर्विहितनिषिद्धयोरग्रं पर्यवसितं परिणामस्तस्य दर्शनं विचारस्तत्कार्यम् इति शेष:। पौराणस्मार्त्तश्रौतानामुत्तरोत्तरमुत्सर्गतो बलिष्ठत्वं तथैव शारीरात्मभागवतधर्माणाम्, तेषु स्वयं तादृशे भगवद्धर्मे निष्ठितस्तदविरोधिपरिणामक: कार्य:, इतरो न कार्य:। तथा अधर्मोपि म्लेच्छसम्भाषणानुसरणादिरूपो बुद्धिमकलुषयन् स्वधर्मनिर्वाहाय चेद्युक्त्या कार्य:, इतरस्तु न कार्य इति। तत्रापि **''स्वाम्यधीनत्वभावनाद्यथातत्सिद्धिस्तथा विवेकरक्षणमनुसन्धेयम्''** इति भाव:। एवं सपरिकरं विवेकं निरूप्योपसंहरन्ति। **विवेकोयं** समाख्यात इति, अयं न त्वन्यो विवेक:। सम्यक् रक्षाप्रकारोपदेशपूर्वकमाख्यात: प्रमाणयुक्तिगर्भाभिरुक्तिभि: कथित इति अर्थ:।

एवं विवेको निरूप्यात: परं प्राप्तावसरं धैर्यं निरूपयन्ति धैर्यन्तु विनिरूप्यते इति।

धैर्यन्तु विनिरूप्यते ।

पूर्वोक्तरीत्या विवेकरक्षणे जिव्होपस्थजयादिरूपस्य धैर्यस्य प्रसङ्गत एव सिद्धेस्तन्निरूपणं न प्राप्तावसम् इति शमानिरासाय तुशब्द:। विवेकस्वरूपे हृदयारूढे धैर्यं स्वत एव भवेत्, परं याथात्म्येन स्वरूपे अज्ञाते अरक्षणे च कदाचित्किञ्चिदपेयादपि, अतस्तदर्थं **विशेषण निरूप्यते** रक्षणोपायसहितं कथ्यत इति अर्थ:।

विवक्षितं धैर्यस्वरूपम् **आहुस्त्रीदु:खेत्यादि।**

त्रिदु:खसहनं धैर्यमामृते: सर्वत: सदा ।

तकवद्देवद्भाव्यं जडवद्गोपभार्यवत् ।।६।।

आमृते: सर्वत: 'मृति' शब्दो मरणकाललक्षण:। 'मृति' जनकं मर्यादीकृत्य सर्वस्मात् **सदा सर्वकाले त्रिदु:खसहनं** त्रयाणामाधिदैविकादिभेदभिन्नानां

कायिकादिभेदभिन्नानां कालकर्मस्वभावजानां ''त्रैवर्गिकायासविघाते''ति वृत्रवाक्यात् त्रिवर्गसम्बन्धावछिन्नानाञ्च सहनं मर्षणमुपेक्षणमप्रतीकारयुक्तो अनुभवो धैर्यम् इति अर्थ:। ननु भगवदीयानाधिदैविकादिदु:खसम्भावनैव नास्ति, यत: कालादयोपि न तद्दु:खहेतवो भवन्ति इति कथं तत्सहनोक्ति:, इति चेत्-भगवता[१] धैर्यपरीक्षार्थं कालादयस्तथा प्रेर्यन्ते, अत: पूर्वं भगवद्भ्यादेव न प्रवृत्तिस्ततस्तदाज्ञया आज्ञाभङ्गभयात्प्रवृत्तिरपि सम्भवति, यतो भगवतैवोच्यते ''मद्भयाद्वाति वातोयम्'' इत्यादि श्रुतिश्च, 'भीषास्मात्' इत्यादि। अयं न्याय: कालादावपि न तुल्य:, भगवन्नियमम्यत्वस्य तत्रापि समानत्वात् इति। ननु भगवत: सर्वज्ञत्वेन परीक्षाकरणमपि न सम्भवति तत्कथं परीक्षार्थं तथा करणम्, किञ्च, परीक्षार्थं भक्तेषु दु:खं ददातीत्यपि नोचितम् इति चेद्, अत्रापि वदाम:। भगवति सर्वज्ञत्वादिधर्मास्तु ज्ञानादिमार्गे साधारणेच्छायां प्रकटा:। पुष्टिमार्गे विशेषरमणेच्छायां तद्रीत्यैव सर्वं करोति इति नानुपपत्ति:। यत: 'स्वागतम्' इत्यादिना अन्तरङ्गभक्तेष्वपि परीक्षैव कृता। द्वारकालीलायामपि ''अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्त:पुरगृहादिषु, क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सये''ति लोकरीत्यापि तथाकरणमुक्तम्। अपरञ्च, ''मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि'' इति भगवता भक्तिमार्गरीत्या भक्तातिरिक्ताज्ञानं स्वस्योक्तम्, तेन ज्ञायते भक्तिमार्गे लौकिकरि इतिमेव भूय: प्रदर्शयतीत्यतोपि नानुपपत्ति: काचित्। किञ्च, दु:खदानस्यायुक्ततायामप्युच्यते। साक्षात्स्वरूपात्मकाश्रयदानार्थमेव धैर्यपरीक्षा क्रियते इति बालाध्यापनार्थताडनवत्, पर्यवसानत: सुखरूपत्वमेवेतिनोक्तशमालेश:। प्रकृतमनुसराम:। धैर्यस्वरूपमुक्त्वा दृष्टान्तपुर: सरं तद्रक्षणप्रकारम् आहुस्तक्रवद् इत्यादि। भाव्यम् इत्यस्य विष्वप्यन्वय:। तक्रवतो राजकलत्रस्य देहस्तक्रवद्देहस्तेन तुल्यं स्वदेहादौ भाव्यम् इति अर्थ:। इयञ्चाख्यायिका।

हत्वा नृपं पतिमवेक्ष्य भुजङ्गदष्टं
देशान्तरे विधिवशाङ्गणिकास्मि जाता
पुत्रं पतिं समधिगम्य चितां प्रविष्टा
शोचामि गोपगृहिणी कथमद्य तक्रमि''ति

श्लोके प्रसिद्धा। तथा च, तया यथा स्वदेहादिपोषणसाधनीभूते तक्रे गते स्वदेहावस्थामनुसन्धाय शोकाभावपुर:सरमप्रतीकारेण दु:खमेव सोढं तथा

---

१ दु:खदाने समर्था:, न चलाचलास्थेष्वेव तथा नेतरेष्विति वाच्यं, बाधकाभावात्। भगवदीयत्वस्य तुल्यत्वात्। तत: कथं त्रिदु:खसहनोक्तिरिति चेत्। इति अधिकं कुत्रापि।

स्वस्याधिभौतिकलौकिकसाधनीभूतधनपुत्राद्यपगमेपि शोकमकृत्वा अप्रतीकारेण दुःखसहनार्थं तथा भावनीयम्। वैष्णवत्वलाभानन्तरं तेषां हेयतैव यतः। अत एव निबन्धेपि श्रीमदाचार्यैः ''प्रतिकूले गृहं त्यजेत्'' इत्यादिना त्याग एव तेषामुक्तः। अथवा दृष्टान्तद्वयमिदम्। तत्र पूर्वो व्याख्यातः। द्वितीयस्तु, देहः किमन्नदातुर्वा निषेकुर्मातुरेव वा ? मातुः पितुर्वा बलिनः क्रतुरग्नेः शुनोपि वे''ति देहः साधारणो नात्मीयस्तथा सर्वेपि तत्तददृष्टसम्पादितत्वात्साधरणा इत्येवं तदर्थमनुसन्धेयम् इति अर्थः। भौतिककायिककर्मजार्थिकदुःखसहने दृष्टान्त उक्तः। आध्यात्मिकसहने दृष्टान्तम् आहुर्जडवत् इति। यथा जडभरते मुक्तिसाधनसत्वेपि तेन पूर्वं मृगशरीरप्राप्तिजन्यं ततो भ्रातृजायादिकृतं भद्रकालिबलिदानसमयपर्यन्तं, ततो रहूगणशिबिकावाहनसामयिकं सोढं तथा आध्यात्मिकालजादिदुःखं सोढुं, तद्वद्भाव्यम्। किञ्चैतद्देहानन्तरं साक्षात्सेवोपयोगिदेहे* विप्रयोगादिदुःखेपि तत्सोढुं जडवदधुना भावनीयम् इति अर्थः। किञ्च, भाव्यम् इति अनेन अवश्यं भाव्यत्वमपि द्योत्यते। तेनाप्रतीकार्यत्वात्तन्निवारणार्थं यत्नो न कर्त्तव्य इत्यपि सूच्यते। आधिदैविकस्वाभाविकादिसहने दृष्टान्तम् आहुर्गोपभार्यवत् इति। भार्याणां समूहो भार्यम्, गोपानां भार्यं गोपभार्यं, तेन तुल्यं भाव्यम्, यथान्तर्गृहगतो गोपानां भार्यासमूहो भगवद्विरहेणातिदुःखं सोढ्वा ततो ध्यानप्राप्तभगवत्सान्निध्यसुखमनुभूया पुण्यपुण्योपरमे निर्गुणदेहेन भगवन्तं प्राप्तस्तथाहमपि प्रारब्धादिसम्भवमुभयं सोढ्वा प्राप्स्यामि इति दुःखसहनार्थमनुसन्धेयम्। एवं प्राप्ते प्रायिकत्वनिरासाय समूहदृष्टान्त इति सर्वं सुस्थम् ।।६।।

अतः परं यदृच्छातः प्रतीकारोपस्थितौ यदि सहनाग्रहस्तदा विवेकहानिराज्ञाभङ्गश्च, यदि तूष्णीकत्वं तदा दुःखनिवृत्त्यासहनाभावेन धैर्यहानिराज्ञाभङ्गश्च इति उक्तभयतः पाशायां रज्जौ समाधानार्थम् आहुः प्रतीकार इत्यादि।

प्रतीकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् ।
भार्यादीनां तथान्येषामसतश्चाक्रमं सहेत् ।।७।।

यदृच्छातो भगवदिच्छातः स्वकृतोपायं विनेति यावत्। आग्रहि इति निन्दायाम् इति। ''भूमिनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने, संसर्गेस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादय'' इति अभियुक्तोक्तेः। तथा च, भगवदिच्छया सिद्धे प्रतीकारे निन्दिता आग्रहवान्न भवेत्। एवञ्चानाग्रहे अभिसन्धाना अभावाद्धैर्यस्य सिद्धिर्भगवदिच्छानुसन्धानाद्विवेकस्य आज्ञातः करणादाज्ञयोरप्यभङ्ग इति सर्वं सामञ्जस्यम् इति भावः। यद्वैवं योज्यम्। **जडवद्गोपभार्यवत् प्रतीकारो यदृछातः**

* वृन्दावनीयमृगादिभवने तदन्तरं साक्षात् सेवोपयोगिदेहे इति पाठन्तरम्।

सिद्धश्चेन्नाग्रही भवेत् इति। तथा च यथा जडो भगवदिच्छया रहूगणेन संवदन् शिबिकावाहनार्थं नाग्रहवान् जातः। यथा च रासमण्डलमण्डनायितं गोपभार्यं विप्रयोगतापे भगवदिच्छया गुणगानस्मरणरूपदर्शनादिरूपप्रतीकारोपस्थितौ भगवदिच्छानुरूपमेव व्यवहृतवत् तथा स्वयमपि स्वाधिकारानुसारेणानाग्रही **भवेत् इति अर्थः।** तत्समूहस्या अनाग्रहोपि श्रीमदाचार्यै''र्गत्या ललितयोदारे''त्यस्याभासे ''यदा पुनरि''त्यारभ्य ''स्वयमाविर्भूत'' इति **अन्तेन** ''त्वयि धृतासव'' इति अत्र ''त्वदर्थमेवे''त्यारभ्य ''तदैव त्यक्षन्ति''इति अन्तेन, ''दुस्त्यजस्तत्कथार्थ'' इति अत्र च स्फुटीकृतः। चद् इति अनेन तादृक्तापे शीघ्रं स्वाश्रयं दातुं प्रभुरेव प्रतीकारं सम्पादयति। न सम्पादयति चेद् इति स्वयं तदर्थं न यतेत। तथा सति प्रभोरनभिप्रेतत्वेन कोपाद्वैपरीत्यापत्तिरित्यपि सूच्यते। अतः परं कायिकं रक्षासाधनमुपदिशन्ति। भार्यादीनाम् इत्यादि। भार्यादीनाम् इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। तेन येत्यन्तस्वनियम्यास्तेषाम्। अन्येषां विभक्ताविभक्तबान्धवादीनामु दासीनानाञ्च, **असतो** दुर्जनस्य, ''दुःसहमिमं मन्ये आत्मन्यसदतिक्रमम्'' इति वाक्याद् दुःसहत्वात्पृग्निर्देशः। एतेषामाक्रमं तिरस्कारं सहेत। आक्रमपदस्य योगेन पादप्रहारपर्यन्तता बोध्यते। सहेत् इति अनुदात्तेत्वलक्षणस्यात्मनेपदस्या नित्यत्वात्परस्मैपदम्। ब्रह्मचारिप्रभृतीनामन्येषामेकाकिनाञ्च भार्याद्यभावाद्बन्ध्व अभावाच्च त्रितयनिर्देशः। तेषां सेवाप्रतिकूलत्वे त्यागरूपमेव सहनम्। स्वविवेकमात्रप्रातिकूल्ये च तदप्रतीकारेण तिरस्कारमर्षणमेव **सहनं** तदाचरेत् इति अर्थः। अत्रोपायो निबन्ध उपदिष्टः। ''सर्वं सहेत परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात्'' इति। ''एतदन्तः स्थितः कृष्ण एवास्मानुपदिशति'' इति च व्याख्यातम् ।।७।।

एवमाक्रमसहनोपदेशे गृहस्थितिरागता। तथा सतीन्द्रियकार्यकरणमर्थाक्षिप्तं, तत्र आसक्तौ च धैर्यस्वरूपस्य सामर्थ्यस्य वा नाश इति तन्निवृत्त्यर्थं साधनान्तरं रक्षणस्योपदिशन्ति स्वयम् इत्यादि।

स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवायनसा त्यजेत् ।
अशूरेणापि कर्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात् ।।८।।

स्वयम् इति उद्यम्य आग्रहेण इति यावत्। **इन्द्रियकार्याणि** ज्ञानक्रियाप्रधानान् भोगान् कायवायनसा[१] कायवाग्भ्यां सहितं मनस्तेन सर्वात्मना त्यजेत्। क्रीडायामपि नाददीत, तेषामत्यन्तबाधकत्वात् इति अर्थः। बाधकत्वञ्च, ''विषयाक्ध्यायतः पुंस'' इत्यादिना गीतायां स्फुटमेव। कायेन त्यागो भोग्यानुपादानम्। वाचा त्यागः

१ सर्वोपि द्वन्द्वो विभाषैकवत्।

शुभाशुभत्वाकीर्त्तनम्। मनसा त्यागस्तन्निःस्पृहत्वम्। न चैवमुद्यम्य त्यागे आग्रहापातेन विवेकहानिः प्रसज्येत् इति शमनीयम्। आग्रहस्योपभोग्यत्वाद्यंश एवोपक्षयेण विवेकभङ्गा असमर्थत्वात्। ननु ''स्वयं त्यजेत्'' इति अनेन यादृच्छिकस्यात्यागः प्राप्तः, उचितं चैतत्। अन्यथा शरीरयात्रानिर्वाहाभावेन साधनस्याप्यनुष्ठानाशक्तिप्रसङ्गात्। अत्यक्ते च यादृच्छिके तस्यापि विषयत्वेन बन्धनस्वभावत्वादिन्द्रियाण्याकर्षणीयानि तथा सति'' इन्द्रियैर्विषयाऽऽकृष्टैरि''ति प्रनाड्या सर्वनाशप्रसङ्गः। न च ततो रक्षार्थं स्वभावो विजेतुं शक्यः। आरम्भदशायां तादृक् सामर्थ्याभावात्। ''स्वभावविजयः शौर्यम्'' इति वाक्येन तस्य शूरकार्यत्वात्। अतः कथं धैर्यरक्षेत्यतस्तत्रोपायम् आहुरशूरेणापि इत्यादि। स्वभावमिन्द्रियाणि च जेतुमसमर्थेनापि स्वस्यासामर्थ्यं भावयित्वा इन्द्रियकार्यत्यजनं कर्त्तव्यम्। किं करोमि, मन्दभाग्योहमसमर्थ एतावत्यप्याज्ञा मया पालयितुं न शक्यते, इत्यादि भावनीयम्। एवं प्रयतमानस्य ग्लानाविन्द्रियाणां कौड्ड्ये, विषयैरपि तथा अनाकर्षात् क्रमेण तत्सिद्धिरित्यर्थः ।।८।।

अत्राप्यशक्तौ पुनरन्यमुपायम् **आहुरशक्य** इत्यादि।

अशक्ये हरिरेवास्ति सर्वमाश्रयतो भवेत् ।

एतत्सहनमत्रोक्तमाश्रयोतो निरूप्यते ।।९।।

एवमप्यशक्ये हरिरेवास्ति शरणम् इति शेषः। नन्वेवं शरणोपदेशेन कथं तत्सिद्धिरिति आकाङ्क्षायाम् आहुः **सर्वमाश्रय**तो **भवेत् इति** 'सर्वधर्मान्परित्यज्ये'ति शरणोपदेशवाक्ये स्वस्यैव पापमोचकत्वकथनेन शोकनिवारणेन च आश्रयादेव सिद्धिबोधनात्तथेत्यर्थः। एवं धैर्यं सपरिकरं निरूप्योपसंहरन्तो अग्रिमनिरूपणस्य गतार्थत्वमपि वारयन्ति एतत् इत्यादि। अत्र शरणमार्गे एतदुक्तसाधनकथनान्तं धैर्यमुक्तम्। तथा च 'अशक्य' इत्यादिना यदाश्रयणमुक्तं तदपि धैर्यरक्षणशेषत्वाद्धैर्यान्तःपात्येव, नत्वाश्रयरूपम् इति अर्थः। अतः परं क्रमप्राप्तं प्रधानमाश्रयं निरूपयन्ति **आश्रयोतो निरूप्यत इति।** अतः तावता चारितार्थ्या अभावादावश्यकत्वाच्च **आश्रयो निरूप्यत इति अर्थः।** आश्रयशब्द आधारे योगरूढः। सेवने यौगिकः, आसमन्तात् श्रयणं सेवनमाश्रय इति।

तत्र प्रकृते किं विवक्षितम् इति आकाङ्क्षायां तस्य स्वरूपम् आहुरैहिक इत्यादि।

ऐहिके पारलोके च सर्वथा शरणं हरिः ।

दुःखहानौ तथा पापे भये कामाद्यपूरणे ।।१०।।

''हराम्यघं हि स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहम्, वर्णश्च मे हरिच्चेष्टस्तस्माद्धरिरहं स्मृत'' इति भारते भगवद्वाक्यात्स्मर्तणां पापतत्फलयोर्हर्त्ता सर्वदेवात्मा तन्नियामकः 'श्यागाच्छबलम्' इति श्रुत्या स्वतः श्यामवर्णः पुरुषोत्तमो **हरिः, ऐहिके**

एतज्जन्मसम्बन्धिकार्ये फलभोगे स्वमनो अभिलषितसेवादिसाधने तत्सम्पादने च, **परलोके** एतज्जन्मान्तरभाविनि जन्मनि, चकारात्तत्र सुखदुःखफलभोगे भगवदिच्छानुरूपसर्वादिसाधने सत्सम्पादने सर्वथा ''शरणं रक्षणे गेहे वध रक्षकयोरपि'' इति कोशात्। ततस्ततः प्रमादादिभ्यो रक्षणात्मा, तत्र-तत्र गेहात्मा, तत्तत्प्रतिबन्धनिवृत्त्यात्मा, तत्र-तत्र ततस्ततो रक्षकश्च, स्वयमेवास्तीत्यनुसन्धानमाश्रय इति अर्थः। तेनात्र चित्तस्यैवं भगवत्प्रवणत्वरूपसेवाविशेषात्मा स्वीकृतः। अन्यैरपि ''मामाश्रित्य यतन्ति ये'', मां हि पार्थ व्यपाश्रित्ये''त्यत्र चित्तसमाधानत्वेन इतरवैमुख्यपूर्वकशरणागतित्वेन आश्रयतया ग्रहणत्वेन व्याख्यातः। शरणागतिश्च रामानुजाचार्यैस्तमेव शरणं गच्छे''त्यत्रानुवर्त्तत्वेन व्याख्यानात्। शमरभाष्ये तु ''मामेकं शरणं व्रजे''त्यत्र भगवदनतिरिक्तानुसन्धानत्वेन व्याख्यातः। मधुसूदनीये तु ''अस्यैवाहं''''ममैवायं'' ''स एवाहम्'' इति त्रिधा, भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकत'' इति भक्तिपूर्वकमेवमनुसन्धानत्वेन। अत्राप्येतदेव स्वीकृतम् परन्तु मायावादनिरासाद् ब्रह्मवादेना अविहितभक्तेराधिक्येन चेति विशेषः। एवं प्रकारेण सदा येषां भावो भवेत्तदा तेषां भगवता आश्रयो दत्त इति ज्ञातव्यम्। कदाचित्कदाचिद्विच्छेदे तु साधनावस्था, कदाचिद्भवनेत्यारम्भदशा, रक्षकत्वमात्रभाने त्वाश्रयस्य भावित्वम् इति आद्युक्तम्। अयमेवाश्रयो भक्त्य अधिकारिणां भक्तिं पोषयन्नुत्तमः। तां जनयन् भक्तिमार्गीयः जनयिष्यन् भक्तिमार्ग अनुकल्परूपः। एवम् एव ज्ञानाधिकारिणां ज्ञानपोषणादि कुर्वन् तन्मार्गीयः। कर्मफलस्य वैराग्यस्य पोषणादिकं कुर्वन्स्तन्मार्गीय इति ज्ञातव्यम्। एवं स्वरूपं निरूप्याश्रयरक्षणप्रकारम् आहुः दुःखेत्यादि। एवं **चित्ते सदा भाव्यम् इत्यादिना** अग्रिमेणान्वयः। तथा च दुःखहान्यादौ हरिः सर्वथा शरणं भाव्य इति अर्थादार्थिके कर्मयोगे सिद्धे दुःखहानावित्यादौ क्वचित् क्वचिन्निमित्तात् कर्मयोग इति अनेन सप्तमी। तेन दुःखहान्यर्थं शरणं गतस्य शरणदानाज्ञानजनितं जीवबुद्ध्या दुःखं, तद्धान्यर्थं तथ इति अर्थः। एवमग्रेपि। साम्प्रदायिकाभिप्रेते विषयसप्तमीपक्षे तु दुःखहानिविषये तथेत्यर्थः। एवमग्रेपि। दुःखनिवृत्तौ आश्रयविस्मरण अभावार्थमुपदेश इति **श्रीरघुनाथचरणाः।** भक्तिमार्गीयस्य सेवायां प्रवृत्तस्य दुःखप्रतीकाराकरणाद् दुःखहानौ धैर्येण चित्तोद्वेगादिसम्भावात् तदभावार्थं शरणभावनमेव कर्तव्यमित्येवतदर्थम् इति **चाचागोपीशाः। गोकुलोत्सवास्तु नात्र** किमपि व्याचख्युः। एवं सर्वत्र तत्तद्ग्रन्थाद्विशेषो अवसेयः। तत्रापि भक्तिं पोषयन् सपरिकर आश्रयो गोपीशैर्विवृतः। भक्तिञ्जनयन् जनयिष्यंश्च इति उभयविधः प्रकारभेदेन **श्रीरघुनाथचरणैर्गोकुलोत्सवैश्च। विवृतः।** अत्र त्वाधुनिकानां

श्रीमदाचार्यमार्गप्रविष्टानामपि स्वभावभेदेन तत्तद्रुचिदर्शनात्तत्तदधिकारानुसारेण तत्फलसिद्ध्यर्थे सर्वप्रकारको दियात्रं प्रदर्श्यत इति न कोपि क्वापि विरोधः। **तथा पाप** इति। सेवादिप्रतिबन्धकपापे दैवाज्जाते वा भगवदपराधे वेत्यर्थः। भये, स्वस्य जीवस्य तुच्छत्वात्कथं ब्रह्मादिदुरापचरणरेणोः प्राप्तिरिति भये, भयान्तरे च। **कामाद्यपूरणे,** काम आद्यो येषां, तद्गुणसंविज्ञानः अलौकिककाममुख्यामुख्यगुणज्ञानात्मकमोक्षाणां पूरणे पूर्त्यर्थं कामादेरपूरणे वा ।।१०।।

भक्तद्रोहे भक्त्यभावे भक्तैश्चातिक्रमे कृते ।

अशक्ये वा सुशक्ये वा सर्वथा शरणं हरिः ।।११।।

स्वस्य कामादिपूर्त्तौ तस्या अन्यत्रादर्शने मदाद् अवज्ञायां, प्रकारान्तरेण वा द्रोहे, भक्तद्रोहापराधो मर्यादायामपि न दूरीकर्त्तुं शक्यते, यथा दुर्वाससोम्बरीषयोः विषये, किं पुनः पुष्टिमार्गे। अतस्तन्निवृत्त्यर्थमयमुपदेशः। स्वस्य, स्वीयानां चोत्कटानुत्कटभक्त्यनुत्पत्तौ दुःसङ्गादिना तन्नाशे च। **भक्तैश्चातिक्रमे कृते** तत्सहनार्थमयशुपदेशः। ते विना निमित्तं सर्वथा कमपि नातिक्रामन्ति। अथातिक्रामन्ति तदा स्वस्मिन्कोपि दोषोस्ति। ततस्तन्निवृत्त्यर्थमयम् इति **चाचागोपीशाः।** अशक्ये **वा सुशक्ये, वा शब्द इति अर्थः।** स्वकृत्यसाध्ये स्वकृतिसाध्ये च सर्वथा व्याख्यातप्रकारेण कायवाङ्मनोभिर्वा सर्वदुःखहर्तैव **शरणम्। सुशक्ये** शरणोपदेशेहमाराभावार्थ इति चाचाः। एवं विशेषेणायं सर्वोप्युपदेशो विवेकाभावेपि आश्रयस्यासहायशूरत्वार्थ इति मम प्रतिभाति। धैर्याभावेपि तथात्वार्थम् आहुरहमार इत्यादि।

अहमारकृते चैव पोष्यपोषणरक्षणे ।

पोष्यातिक्रमणे चैव तथान्तेवास्यंतिक्रमे ।।१२।।

अहमारकृते अभिमानेन कृते, तद्दोषनिवृत्त्यर्थाभिमाननिवृत्त्यर्थञ्चायमुपदेशः। चकारः। सर्वत्रानुक्तसजातीयसमुच्चयार्थः। **एवकार** उपायान्तरानुष्ठानव्युदासार्थः पोष्यपोषणरक्षणे[1] सम्भावनेन तद्रक्षणस्य लौकिकत्वात्तत्करणे स्वस्य सेवादिविधातादरक्षणे भगवत्पोष्यानां क्लेशादुभयसामञ्जस्यार्थमिदम्। पोषणक्रियासहितरक्षणक्रियायां वा पोष्यातिक्रमणे। पोष्यैः सह निवेदितैः कृते, स्वयं वा तेषां कृते अतिक्रमणे आसुरं भावं विना तदभावात्तत्तन्निष्ठतन्निवृत्त्यर्थं स्वप्रयत्नत्यागार्थं चेदम्। **तथान्तेवास्यतिक्रमे,** अत्रापि तथा। तस्मिन्स्वकृतोपकाराद्यनुसन्धानेन गर्वाद्यनिष्टसम्भावात्तन्निवृत्यर्थं पृथगुपदेशः ।।१२।।

१ पोषितुमावश्यकानां पोषणं येन तत् पोष्यपोषणम्, आवश्यकलौकिकोपयोगिद्रव्यादि तस्य रक्षणे, इस्यधिकम् घे।

अलौकिकमनःसिद्धौ सर्वथा शरणं हरिः ।

एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत् ।।१३।।

अलौकिकमनः सिद्धौ, निमित्तात्सप्तमी। ''मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धञ्चाशुद्धमेव च। अशुद्धं काममसमल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्'' इति श्रुतेः। काममसमल्परहितमनःसिद्ध्यर्थं सेवाश्रयाद्यनुकूलमनःसिद्ध्यर्थम् इति अर्थः। **सर्वार्थे** पुष्ट्यादिमार्गीयसकलपुरुषार्थाद्यर्थम्, अतिदीनभावसिद्ध्यर्थोयमुपदेशः। **शरणं हरिः** व्याख्यातमेतत्। एवं विषयमुपदिश्य रक्षणप्रकारम् आहुरेवम् इत्यादि। चित्ते भावनेन भगवानाश्रयं ददाति। क्षणमात्रमप्यासुरावेशाभावार्थं सदेति। वाचा परितः **कीर्त्तनेन** मार्गः प्रचलति। तेनोभयोपदेशः ।।१४।।

कायिकम् **आहुरन्यस्य** इत्यादि।

अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।

प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि तथान्यत्र विवर्जयेत् ।।१४।।

अन्यस्य भगवदतिरिक्तस्य **भजनं वर्जयेत्**। अन्यं देवत्वेन कामपूरकत्वादिदुराशया वा न सेवेत। तत्र **स्वतो गमनमेव च,** तत्कारणभूतं तत्र तत्समीपे स्वत अद्यम्य गमनञ्च **वर्जयेदेव**। ''यावदन्याश्रयस्तावद्भगवानपि तं जनम्, विलोकयेन्न दयया ह्यनन्यजनवत्सल'' इति वाक्यादन्याश्रये भगवानाश्रयमपि न दद्यात् इति ज्ञापनायैवकारः। कौतुकार्थमप्यम्बिकालयगमने नन्दग्रासस्योक्तत्वाच्च। मध्येमार्गं सामीप्ये जाते त्ववज्ञानं न कुर्याद्, भगवत्सेवकत्वावयत्वादिकं भावयेदित्यपि सूचितम्। **प्रार्थनाः कार्यमात्रेपि वर्जयेत्।** तेन कार्यव्थामोहे भगवति प्रार्थनां कदाचित् सकृत्कुर्यादपि इति सूच्यते। **श्रीरघुनाथचरणैस्तु प्रार्थनापदं** प्रथमान्तं कार्येत्यध्याहृत्य व्याख्यातम्। ''अपृष्ट्वा यस्तु यां काञ्चित्क्रियां नारभते हरिम्। असम्भिन्नार्यमर्यादस्तस्य तुष्यति केशव'' इति विष्णुधर्मीयशमरगीतावाक्येनोपष्टब्धञ्च। तथा च प्रार्थनापदं विज्ञापनमात्ररम् इति तेषामाशयः। एवञ्च न पूर्वग्रन्थविरोधोपि इति युक्ततरमेव तैर्विमृष्टम्। याचनव्यवहारासाधारणकारणीभूतः कायादिव्यापारोयं ददात्वित्यभिसन्धिपूर्वको वा **सः प्रार्थना**। तदकारणमनभिसंहितं स्वज्ञातवस्तुस्वरूपमात्रकथनं विज्ञापनम् इति तयोः स्वरूपभेदादुचितं चैतत्। स्वाम्यधीनत्वदाढ्यें न विवेकोपष्टम्भात्। आज्ञाया विलम्बे धैर्यस्याप्युपष्टम्भादाश्रयदाढ्यें तस्य शीघ्रं स्वकार्यक्षमत्वसिद्धेरिति। **तथान्यत्र विवर्जयेत्।** यथा भगवति सकृत्प्रार्थनं सर्वविज्ञापनञ्च, तथेतरेषु विशेषेण वर्जयेत्, तदुभयमपि सर्वथा न कुर्यात् इति अर्थः। मनसाप्यविचारणं वर्जने विशेषः। एवं कायिकमुपदिष्टम् ।।१४।।

अतः परमेतत्सर्वसिद्ध्यर्थं बाधकत्यागोवश्यं वक्तव्यस्तम् आहुरविश्वास इति।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ प्राप्तं सेवेत निर्ममः ।।१५।।

'मदुक्ताविं''ति शेषः। 'आश्रय' इति वा। **सर्व**थेति, स्वरूपतः फलतश्च। तु पूर्वपक्षनिरासकः। ''यस्य स्यात् श्रद्धा न विचिकित्सास्ति'' इति श्रुतिम्, ''अज्ञाश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति'' इत्यादि स्मृतिञ्च प्रमाणत्वेनाक्षिपति। तर्हि तन्निवर्त्तनायोपायो वक्तव्य इति अत आहुः ब्रह्मस्त्रे इत्यादि। **ब्रह्मास्त्रं** चातकश्चेत्युभौ अविश्वासस्य बाधकत्वे विश्वासस्य साधकत्वे च यथा यथं **भाव्यौ** चिन्तनीयौ, तयोर्वृत्तान्तः स्मर्त्तव्य इति अर्थः। यथा लमायां राक्षसैर्ब्रह्मास्त्रेण हनुमान् बद्धस्ततस्तं बद्धं निश्चेष्टमालोक्य तै रज्जुभिर्बध्धुभारब्धस्तदा तेषां विश्वासा अभावं दृष्ट्वा ब्रह्मास्त्रं ततो निर्गतं, हनुमान्मुक्तबन्धनो रज्जुबन्धनानि बभञ्ज। तेन तेषां प्रयोगप्रयासो व्यर्थो अभूत्। तथात्राविश्वासे भगवानपि त्यजति भक्तिमार्गे शरणमार्गे च प्रवृत्तिरपि वृथा भवति इति अविश्वासे दृष्टान्तः। चातकः पक्षिविशेषः, स च स्वातिबिन्दुमासाद्यावर्षपर्यन्तं, विश्वासेन तिष्ठति, तेन तस्य क्षेमं निर्वहति, पुनश्च स्वातौ पर्जन्यो वर्षत्येव। तथात्र श्रीमदाचार्योक्तौ विश्वासे तथा भगवति मार्गे च विश्वासे सर्वं सिद्ध्यति इति विश्वासे दृष्टान्तः। तथा च अविश्वासं परित्यज्य विश्वासं कृत्वा प्राप्तं सेवेत निर्ममः, लौकिके ममतां परित्यज्य यदृच्छया प्राप्तं सुखं वा दुःखं वा तत्साधनं वा अनुभवेन्न तु तत्राभिनिवेशेत् इति अर्थः ।।१५।।

अनभिनिवेशे लौकिकादिनिर्वाहप्रकारम् **आहुर्यथा कथञ्चित् इत्यादि।**

यथाकथञ्चित्कार्याणि कुर्यादुच्चावचान्यपि ।

किं वा प्रोक्तेन बहुना शरणं भावयेद्धरिम् ।।१६।।

उच्चानि सेवार्थानि, **अवचानि** लौकिकार्थानि, उभयान्युभयविधानि वा यथा **कथञ्चित् कुर्यात्** नतु ऋरादिना, नापि लौकिकसम्भ्रमेण इति अर्थः। एवमपि कथञ्चिन्निर्बन्धसम्भवे तत्रापि उपायम् आहुः किं वेत्यादि।। **बहुना प्रोक्तेन** किं, न हि यावन्तः प्रकाराः कालकर्मस्वभावसङ्गदेशादिनिबन्धना आनक्त्याद्वक्तुं शक्यन्ते। तस्माद्दियात्रेणोक्तेषु यः प्रतिविधानोपायः पूर्वमुक्तस्तमेव सर्वत्रानुसन्दध्यात् इति आशयेनानुवदन्ति शरण भावयेद्धरिम् इति। ''सर्वधर्मान्परित्यज्ये''त्यत्र ''तस्मात्त्वमुद्धवे''त्यत्र च भगवता तथैव निर्द्धारितत्वाच्छरणागतेषु तेनैव निर्वाहस्य व्रजस्थेषु सत्यव्रतसप्तर्ष्यादिषु दर्शनाच्च इति अर्थः। एतेनाङ्गाभावेप्याश्रयस्यासहायशूरता निर्द्धारिता ।।१६।।

एवमार्गमुपदिश्योपसंहरक्त्येवम् इत्यादि।

एवमाश्रयणं प्रोक्तं सर्वेषां सर्वदा हितम् ।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः ।।१७।।

एवमुक्तप्रकारेण आश्रयणं मार्गरूपं प्रोक्तं, प्रकर्षेण विवेकधैर्यसाहित्येन कैवल्येन चोक्तम्। तदिदं **सर्वेषां** वर्णाश्रमयुक्तानां तद्रहितानां च **सर्वदा** अस्मिन्युगे

युगान्तरे च सम्पदापत्काले च हितम् यथाधिकारमुत्तमफलजनकम्, ''मां हि पार्थ व्यापाश्रित्य'' ''किरातहूणा घ्रे''त्यादिवाक्येषु तथैव निर्द्धारात्। ननु तर्हि भगवता 'योगास्त्रय' इति अत्र त्रय एव किमित्युक्ताः। पृथगयं कुत उक्त इत्यत आहुः कलावित्यादि। तेषां साधनसापेक्षत्वादेककोटावुक्तः, अयं तन्निरपेक्षो अनुकल्परूपश्चेत्यतो भिन्नतयोक्तः। एतं भगवदाशयमहं जानामि इति आहुर्मेतिरिति। तथा चैतद्ग्रन्थं मदाज्ञारूपमनुसन्धायाश्रयं कुर्वतां सर्वथा भगवानाश्रयं ददाति इति आशयः।

स्वरुचा तिरस्कृतपयोदरुचिं यमुनातटे रचितवेणुरवम् ।
व्रजनायकं रुचिररासकरं सततं विभावय मदीयमनः ।।१।।
विवेकधैर्याश्रयाणां विवृतिस्तु यथामति ।
कृता तेन प्रसीदन्तु स्वाचार्याः सततं मयि ।।२।।
त्वदीयत्ववशाद्भाष्ट्यार्द्यल्लिखितं मयात्र तत् ।
भूयात्स्वाचार्यमोदाय बालधौर्त्यं यथा पितुः ।।३।।

इति श्रीमदाचार्यचरणैकतानश्रीश्यामलसुतश्रीव्रजराजविरचिता
विवेकधैर्याश्रयविवृतिः सम्पूर्णा।

---

१ ''भगवदाश्रयम्'' इति पाठः हस्ताक्षरे। अन्यपुस्तकेषु यथा स्वीकृतस्तथा समीचीनो भाति।